अनुगूँज

श्रीविलास जबराल 'विलास'

अनुगूँज

मान-प्रति

आदरणीय डॉ० रामस्वरूप आर्य

को

सादर

[illegible]

28.11.80

इलाहाबाद बैंक, धामपुर (बिजनौर) उ० प्र० के सौजन्य से

डॉ० श्रीविलास डबराल 'विलास'

वाणी विलास प्रकाशन
धामपुर (बिजनौर) उ० प्र०

अनुगूँज

कहानी-संग्रह

कापीराइट : डॉ० श्रीविलास डबराल 'विलास'
प्रथम संस्करण : १९८०
मूल्य : १०.००

प्रकाशक | वाणी विलास प्रकाशन
धामपुर (बिजनौर) उ० प्र० २४६७६१

वितरक | हिन्दी बुक सेंटर
४/५, बी, आसफअली रोड
नई दिल्ली–२

मुद्रक | डॉ० श्रीनन्दन बन्सल
बन्सल प्रिंटिंग प्रेस,
धामपुर

अभिकल्पक (मुखपृष्ठ) : अवधेश कुमार

संग्रह की अस्मिता

पहले कहानी-संग्रह 'पहाड़ों के साये में' को पाठकों का अपार स्नेह मिला। यह दूसरा संग्रह उसी की प्रेरणा और प्रोत्साहन का प्रतिफल है।

इस संग्रह की 'बुआ' कहानी 'अखिल भारतीय हिमप्रस्थ कहानी-प्रतियोगिता, १९७९' में पुरस्कृत रचना है। प्रतियोगिता के निर्णायक थे – श्री राजेन्द्र अवस्थी, डॉ लक्ष्मी नारायण लाल एवं डॉ गंगा प्रसाद विमल। अन्य कहानियों में से 'परित्यक्ता' 'निहारिका' में और 'नागपाश से मुक्ति' 'हिमप्रस्थ' (शिमला) में प्रकाशित हो चुकी हैं। 'चिट्ठी' और 'पिशाचिनी' आकाशवाणी नजीबाबाद से प्रसारित कहानियाँ हैं। शेष कहानियाँ पहली बार प्रकाशित हो रही हैं। आशा है, इस संग्रह को भी पाठकों का पूर्ववत् स्नेह एवं साधुवाद प्राप्त होगा।

इस संग्रह की कहानियों में उन व्यक्तियों और जीवन-स्थितियों की अनुगूँज है, जो समय-समय पर मेरे लिए संवेद्य रहे और जिनकी स्मृतियाँ मेरे अन्दर बराबर पकती-उबलती रहीं। उनसे सम्बन्धित जो कुछ और जितना कुछ बाहर से अन्दर आया, उसे मैंने यथावत् प्रतिध्वनि की तरह नहीं उठाया, अपितु उन प्रारम्भिक ध्वनियों को भी तलाशने का प्रयास किया है, जिनसे मिलकर ही ध्वनि का अन्तिम स्फोट सार्थक होता है। मनोजगत् की अपनी इस अन्वेषण-यात्रा में मैं कहाँ तक सफल रहा हूँ, यह तो नहीं कह सकता, किन्तु इतना अवश्य कहना चाहूँगा कि मैं अपनी सीमा और शक्ति के अन्तर्गत इस तलाश में पूरी तरह नैष्ठिक एवं समर्पित रहा हूँ। वाग्देवी के चरणों में अर्पित ये फूल भले ही म्लान और निर्गन्ध लगें, पर इनका समर्पण-भाव सदैव श्रद्धा-भक्ति से प्रेरित रहा है। मुझे गर्व है कि अपनी इस सारस्वत-साधना में मैं सदैव अपनी अन्तश्चेतना के सामने साफ रहा हूँ।

कहानियों के पात्र कला के आवरण में छिपे मेरे अपने लोग हैं— भावात्मक सम्बन्ध से अपने। मैंने उन्हें उनके परिवेश और परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में देखने, समझने और परखने का प्रयास किया है। अपने रचनात्मक क्षणों में मैंने अनुभव किया है कि इस दुनिया की मरीचिका में सीधा खजूर उलटा दिखायी देता है। यहाँ प्रदर्शन में दर्शन की भ्रान्तियाँ हैं। इस भ्रमजाल के अन्तराल में झाँकने पर विदित होता है कि बड़ा, जैसा दिखाई दे रहा है, वैसा बड़ा नहीं और छोटा भी कहीं महान् होता है। इन कहानियों में छोटों की अन्तर्निहित महानता को ही उजागर किया गया है। उस मानव चेतना की महानता को, जो जीने और ऊपर उठने की सुविधाओं के अभाव में दबी-घुटी, कुंठित और प्रच्छन्न रह जाती है। इस अनुभव के आधार पर मैंने अपने पात्रों को ऊपरी सतह पर नहीं, मानस की गहराइयों में तलाशने का प्रयास किया है — अर्थात् उलटे खजूर को उसके वास्तविक रूप में दिखाने का प्रयास।

*

मेरे रचनाकार के साथ मेरे छिद्रान्वेषी आलोचक की टोका-टोकी भी खूब चली। उसके आदेश-निर्देश कभी भी मेरे रचनाकार के लिए स्फूर्तिदायक सिद्ध नहीं हुए। इसके विपरीत वे बहती नदी के सामने अड़ने वाली चट्टानों की तरह सदैव ही विक्षोभकारक रहे। जब-जब मैंने नये समीक्षकों की समीक्षा-दृष्टि या नई कहानियों की कथ्य एवं शिल्पगत विशेषताओं को देखते हुए अपने रचनाकार को चलाने की कोशिश की, वह रूठकर हाथ छुड़ाने लगा। वह अपनी मर्जी से चलना चाहता था। इस द्विविधाग्रस्त मनःस्थिति से उबरने के लिए जब मैंने वाद और विवाद के बीच से गुजरने वाला संवाद का रास्ता पकड़ा, तो मेरा रचनाकार उस पर निर्द्वन्द्व दौड़ चला। उसकी अभिव्यक्ति में ऐसा प्रवाह आ गया कि मेरा आलोचक उसमें उतरने का साहस ही नहीं कर सका। वह अकबकाया-सा किनारे ही खड़ा रह गया। तब मेरी मान्यता बनी कि रचना करते समय अपने

सृजक को ही महत्त्व देना चाहिए। बात-बात में अड़ंगे डालने वाले अपने आलोचक को उस समय एक किनारे धकेल कर रखना ही हितकारी एवं पथ्यकर है। वह आँखें दिखाये, तो परवाह न करे। रचनाकार अपनी अन्तश्चेतना की राह चलता रहे। अपने आलोचक को साथ लेकर चलने का मतलब है— पग-पग पर अभिव्यक्ति की सहजता पर अंकुश। इससे सृजक की गति ही कुंठित नहीं होती, उसकी चलने की उमंग भी समाप्त हो जाती है। हाँ, रचना-प्रक्रिया के समाप्त हो जाने के बाद मैं रचना के औचित्य या संगति पर, कथ्य और शिल्प के सामंजस्य पर अवश्य विचार करता हूँ और तब तक करता रहता हूँ जब तक संशोधन की प्रक्रिया में पड़कर रचना में चमक नहीं आ जाती। खान से निकलने के बाद ही हीरा सान पर चढ़ाया जाता है। तभी वह विभिन्न कोणों से जगमगाता है।

रचना-प्रक्रिया की बात चली है, तो यह भी कह दूँ कि मैं रूप-रेखा बनाकर कहानी लिखने में कभी भी सफल नहीं हो सका। जब भी कहानी मानस से उफन कर चली, रूपरेखा बाढ़ में किनारों-सी ढह-बह गई। इसलिए मैं अपनी रचना प्रक्रिया को सहज रहने देता हूँ– नदी के बहाव की तरह। रचनात्मक क्षणों में मैं पात्र को उसके परिवेश, जीवन-स्थिति और घटनाचक्र के परिप्रेक्ष में खड़ा कर देता हूँ। इनके बीच से गुजरता हुआ वह अपने बहिरन्तर द्वन्द्वों से खुद-ब-खुद अपनी कहानी बना लेता है। मेरी कल्पना, विचार और जीवन-दृष्टि उसके संबल होते हैं और संवेदना उसकी शक्ति। कई बार इस प्रक्रिया से चलने के कारण कहानी अकल्पित एवं अप्रत्याशित मोड़ भी लेती है। यदि वह मोड़ अभिव्यक्ति की कलात्मकता से प्रेरित होता है, तो मैं कहानी को चलने देता हूँ। भावावेश की बहक होने पर ही नदी पर बाँध बाँधता हूँ, ताकि वह पठारों की ओर व्यर्थ प्रवाहित न होकर सूखी पड़ी उर्वर भूमि की ओर बहे।

अपनी इन कहानियों में मेरा प्रयास रहा है कि भले ही ये एक खास देश-काल से सम्बन्धित हों, इनमें उस मानव-चेतना को उजागर किया

*

जाये, जो देश-कालातीत है— सर्वत्र एक और अविच्छिन्न। उस पर मेरी पकड़ कितनी दृढ या शिथिल, संगत या असंगत, सार्थक या निरर्थक है— इसका निर्णय मैं अपनी सुधी पाठकों पर छोड़ता हूँ। यों मेरा विश्वास है कि ये कहानियाँ अपनी अन्तर्निगूढ संवेदना से पाठकों को उस प्रेरणा-भूमि में पहुँचाने में अवश्य समर्थ होंगी, जहाँ से इनका अंकुरण हुआ। यदि इस प्रकार ये कहानियाँ रचनाकार और पाठक के बीच भाव-सेतु स्थापित करने में समर्थ होती हैं, तो ही मैं अपने इस प्रयास को सफल हुआ समझूंगा, क्योंकि तभी कहानी लिखने का मेरा अभीष्ट प्रयोजन लोक-जीवन में अपनी चरितार्थता पा सकेगा।

मेरे लिए मेरे पाठक ही मेरे सच्चे समीक्षक हैं। सरसरी तौर पर किसी कृति को देखने वाले तथाकथित आलोचक तो सच्चे पाठक भी नहीं बन पाते। फिर अब ऐसे समीक्षक हैं कितने, जो रचना को रचना की दृष्टि से परखें, उसमें अन्तर्निहित जीवन-मूल्यों को तलाशें ! जो निष्ठावान् समीक्षक हैं भी, वे भी उन आलोचकों की भीड़ में दब गये हैं, जो किसी गुट, वाद या पूर्वाग्रह से ग्रस्त हैं। ऐसी हालत में सही को सही और गलत को गलत दिखाकर अपने अस्तित्व का खतरा कोई क्यों मोल ले ! इसलिए मुझे तो अपने पाठकों का ही भरोसा है, जो रचना के बारे में निर्वैयक्तिक रूप से दो टूक भले-बुरे का निर्णय कर लेते हैं – अपनी अन्तश्चेतना पर पड़े रचना के प्रभाव के आधार पर।

*

अन्त में मेरी कृतज्ञता श्री जनार्दन देव सोती (ब्रांच मैनेजर, इलाहाबाद बैंक, धामपुर), डॉ० रामशरण कौशिक, डॉ० धीरेन्द्र अग्रवाल एवं प्रो० शंकर 'क्षेम' के प्रति समर्पित है, जिनके सहयोग से ही यह संग्रह अँधेरे से उजाले में आ पाया है।

वाणी विलास प्रकाशन, धामपुर (उ० प्र०)
१० सितम्बर, १९८०

'विलास'

अनुक्रम

१/बुआ

बुआ की याद आती, तो एक कचोट-सी जाग जाती थी उसके मन में। कुछ बुढ़ापे में उसकी दयनीय दशा के ख्याल से, कुछ अपनी लाचारी देखकर। वर्षों तक बुआ ने गाँव में उनके मकान की साज-सँभाल रखी, खेती-बाड़ी की देखभाल की। वह न होती, तो निश्चित ही गाँव लौटने पर उन्हें सब कुछ उजड़-बिजड़ मिलता—मकान खंडहर और खेत बंजर। सब कुछ फिर नये सिरे से जोड़ना-बसाना पड़ता उन्हें। कितनी परेशानी होती! कितना खर्च पड़ता! यह जानकर भी, जब वे स्थायी रूप से गाँव में रहने आये, बुआ उन्हें एक बेमतलब बोझ लगने लगी। तब अपने अपेक्षा-पूर्ण व्यवहार से उन्होंने उसे ऐसी मानसिकता में धकेला कि उसकी घुटन से उबरने के लिये उसे विवश होकर बुढ़ापे में अपनी ससुराल की शरण लेनी पड़ी, जहाँ उसका कोई अपना नहीं। सगा देवर है, पर बेसगा-जैसा। मकान व खेतों का बँटवारा क्या हुआ, देवर-भाभी का सम्बन्ध भी जैसे दो टुकड़ों में बँट गया। रिश्ता सिर्फ कहने के लिए रह गया है—खाली बोतल पर चिपके लेबल-सा। एक मुर्दा रिश्ता, जिसमें अपनत्व के प्राण नहीं।

जब उसे सहारे की जरूरत थी, बेसहारा छोड़ दिया। परिस्थिति को ही दोष नहीं दिया जा सकता, वे भी कहीं-न-कहीं कमजोर थे। इस पर शर्म की बात यह कि उसे वे इस तरह भुला बैठे, जैसे वह उनके घर से नहीं, दुनिया से ही उठ गई हो!

नौकरी लगने पर उसने सोचा था, बुआ को अपने साथ शहर ले आये। लेकिन इसमें उसे दस खटराग दिखाई दिये। बुआ को प्याज-लहसन से परहेज है। अब या तो उसके लिये अलग खाना बनाओ, या उसकी तरह

का बेमजा सुस्त खाना खाओ। मांस की तरह लाल रंग का होने से वह टमाटर भी नहीं खाती। मल्का-मसूर की दाल न खाने का भी शायद यही कारण है। तब तो बुआ के साथ खाने में हर लाल रंग की चीज निषिद्ध हो जायेगी। बिना नहाए-धोए चौके में नहीं घुसा जा सकेगा। आदतन घुस गये, तो बुआ उस बार खाना नहीं खायेगी। कोई न कोई बहाना बनाकर भूखी रह जायेगी। या फिर चौका धोकर अपने लिये फिर से खाना बनायेगी। यह क्या कम परेशानी है? वह आफिस के लिए तैयार होकर टेबल पर खाना खाने बैठता है। बुआ उसे जूतों के साथ खाता देख ले, तो कहेगी, 'अरे तारा, कुछ तो धरम-करम का ख्याल रख। बड़े पुण्यों से ब्राह्मण के घर जन्म मिला है, क्यों अगला जन्म बिगाड़ रहा है?' बात-बात पर उपदेश सुनने पड़ेंगे। अनेक बन्धन हैं बुआ के साथ। घर कैदखाना बन कर रह जायेगा। यह सोचकर उसने बुआ को साथ रखने का विचार रद्द कर दिया था।

तब उसने तय किया था कि कभी-कभार बुआ के लिए सौ-पचास भेज दिया करेगा। उसका तेल, गुड़, चीनी-चाय, कपड़े-लत्ते का खर्च निकल जायेगा। भले ही खेती कम है, पर इतनी कम भी नहीं कि उसके एक पेट के लिए काफी न हो।

लेकिन ज़िन्दगी सोच के अनुसार कहाँ चलती है! चलती होती तो बुआ के लिए उसे सोचने की जरूरत ही क्या थी! वह अपने सोच के अनुसार खुद अपनी जिन्दगी चला लेती। जिन्दगी तो जिन्दगी के ही ढंग से चलती है। इसमें अपना सोचा हुआ कभी-कभार घट गया, तो घट गया; वरना अप्रत्याशित इतना घटता है कि हम सोचते ही रह जाते हैं। यानि सोच, सोच और सोच—यही जैसे हमें मिला है। इसी में जैसे हम स्वतन्त्र हों, वरना पूरी तरह लाचार और बेबस। ऐसा न होता तो अब तक, इतने वर्ष बीत जाने पर भी, वह सिर्फ सोचता ही रह सकता था! बुआ की कोई मदद न करता!

धीरे-धीरे बुआ के बारे में उसका सोचना छूटता गया। कभी-कभार उसकी तरफ ख्याल जाता भी, तो वह उसे झटक देता। वह जब उसके लिए कुछ कर ही नहीं सकता तो मन पर लाचारी का अहसास लादने से फायदा ही क्या! अपना-अपना भाग्य है। गाँव के लोग तो सोचते हैं, शहर में नौकरी का मतलब है— ठाठ-ही-ठाठ। यहाँ मिट्टी भी मोल लेनी पड़ती है। महीने का वेतन आया नहीं कि मकान, राशन, दूध, अखबार आदि के बिलों में घुस जाता है। उस पर अनेक आकस्मिक खर्चे। यार दोस्तों के आगे बार-बार हाथ फैलाते शर्म आती है।

फिर भी उसके मन में जब-तब यह सवाल खटक ही जाता था कि जहाँ वह इतने खर्चे अपनी घर-गृहस्थी के लिए उठाता है, क्या हर माह दस-बीस रुपये भी बुआ के लिए नहीं भेज सकता? कैसे भेजे? बुआ सोचेगी, इतने वर्षों बाद याद भी किया, तो दस-बीस रुपल्लियों से! इससे तो भेजना, न भेजना बराबर। रुपये तो दूर, इसी संकोच के कारण वह अब तक चिट्ठी तक न भेज सका।

*

आज उसे एरियर मिला था। आफिस से घर लौटते ही उसने सौ-सौ के चार नोट पत्नी के सामने लहरा दिये। वह खुशी से झपट पड़ी। यह उपलब्धि उसके लिए अप्रत्याशित थी। उसने उसे बताया नहीं था कि एरियर मिलने वाला है। वह उसे चौंकाना चाहता था। पत्नी नोटों को हाथ में लेकर सस्वर गिनने लगी— 'एक, दो, तीन और चाऽऽर! कहाँ से आये ये?' पत्नी ने पुलक कर पूछा!

'बढ़े हुए वेतन का बकाया मिला है।' उसने कहा।

पत्नी के चेहरे पर एक स्वप्निल आभा थी। उन सपनों की आभा, जो इन चार सौ रुपयों को लेकर उसके दिल में जाग गये थे। अच्छा मूड देखकर उसने कहा— 'कहो तो सौ रुपये बुआ के लिए भेज दें।'

'इनमें से एक रुपया भी नहीं दूँगी।' रुपयों को अपने ब्लाउज के अन्दर घुसेड़ती हुई वह ऐसी तिलमिलाई-सी बोली जैसे उसके किसी सौ रुपये के सपने पर चोट पड़ी हो।

'इनमें से कौन माँग रहा है, सुशील की माँ,' चारपाई पर उससे सटकर बैठते हुए उसने कहा— 'ये तो विशुद्ध तुम्हारे लिए हैं। जैसा चाहो, खर्च करो। बुआ के लिए तो यह अलग निकाल रखा है।'

यह कहते हुए उसने जेब से निकाल कर एक सौ का नोट दिखाया, तो पत्नी उस नोट को ऐसी हसरत से देखती रह गई, जैसे कोई एक और सपना पूरा होने से रह गया हो। गनीमत हुई कि वह उस पर झपटी नहीं!

*

बुआ के लिए मनिआर्डर करके उसे ऐसा लगा जैसे एक बहुत बड़ा बोझ उसके मन से उतरा हो। नैतिक दायित्व निभाने की-सी उस खुशी में उसने तय किया कि अब वह हर महीने दस-बीस रुपये भेजता रहेगा। इतना तो वह बीड़ी-सिगरेट में ही फूँक देता है। सिनेमा और कैन्टीनबाजी में कटौती करदे तो चालीस-पचास भी भेज सकता है। बुआ को भी लगेगा कि हाँ, उसका भी अपना कोई है। इतने भतीजे हैं बुआ के! सब अच्छे खाते-पीते! अरे, दस-पाँच रुपये भी सब हर महीने भेजते रहते तो कौन-सा पहाड़ टूट रहा था? बुआ के लिए अच्छी-खासी मदद हो जाती। लेकिन नहीं, अपने मौज-मजे से फ़ुर्सत ही कहाँ है लोगों को! अपनी-अपनी गृहस्थी में ऐसे खोये हैं, जैसे उसके बाहर दुनिया ही नहीं। रुपया तो दूर, चिट्ठी तक नहीं भेजते कि बुआ, कैसी हो? कोई तंगी तो नहीं? शाब्दिक सहानुभूति के भी गरीब हो गये हैं लोग! डरते होंगे कि कहीं बुआ कुछ माँग न बैठे! अरे, बुआ ऐसी औरत नहीं। किसी ने दे दिया तो ले लिया, वरना पूछो तो यही कहती है— 'भगवान की कृपा से

कोई तंगी नहीं।' जबकि दिखाई यह देता है कि भगवान की अकृपा ही उस पर अधिक रही। फिर भी उसे भगवान से कोई शिकायत नहीं। पूछो तो कहती है— 'यह तो अपने कर्मों का फल है, जो भोग कर ही कटेगा। इसमें भगवान का क्या दोष ?'

उसे याद है, बुआ नित्य-नियम से नहा-धोकर पूजा-पाठ करती थी। जाड़ों की हिमानी हवाओं में भी वह सुबह-सुबह झरने के हिम-जल में नहाकर आती थी। उस समय घर के लोग आग तापते होते थे। हाथ-पाँव ऐसे सुन्न रहते थे कि आग की लपटों में डाल देने पर भी क्षण-दो-क्षण बाद ही महसूस होता था कि वे जीवित हाथ-पाँव हैं। ठंड की उस हालत में भी बुआ पहले पूजा-पाठ करती थी। तब कहीं चूल्हे के पास बैठकर चाय पीती थी। ठंड से नीले पड़े उसके होंठों की याद आती है, तो न जाने उसके मानस में धतूरे के नीले फूल का बिम्ब ही क्यों उजागर हो जाता है ? और भी तो नीले फूल हैं, उनका क्यों नहीं ? जहरीले धतूरे का ही क्यों ?

अजीब बात है, बुआ गीता रामायण तो खूब पढ़ लेती है, लेकिन लिखना नहीं जानती ! अपने अक्षरज्ञान का उपयोग केवल पढ़ने में किया शायद इसीलिए। लिखने के नाम पर हस्ताक्षर भर कर पाती है। वह भी टेढ़े-मेढ़े अष्टावक्री अक्षरों में। अब मनीआर्डर की रसीद पर उसके हस्ताक्षर आयेंगे ! बुढ़ापे के हाथों के कांपते हुए हस्ताक्षर ! अशक्तता के सूचक ! ....चिट्ठी भी आयेगी ! किसी से लिखाकर भेजेगी। लिखने वाला अच्छा हो, तो लिखवाना बहुत अच्छा जानती है बुआ। चिट्ठी में जैसे दिल ही निकालकर रख देती है, कोई बनावटीपन नहीं। आशीर्वाद जरूर ज्यादा हो जाते हैं, फिर भी अच्छे लगते हैं। दिल से निकले होते हैं, इसलिए सीधे दिल को छूते हैं। किसी की सहायता के बदले शायद वह अपनी लाचारी अनुभव करती है। सोचती होगी, सिवाय आशीर्वादों के

उसके पास है भी क्या देने के लिए ! लेकिन, जो भी हो, उस तपस्विनी की आशीर्वाद वरदान से लगते हैं।

बुआ ने ही बताया था कि वह तेरह वर्ष की थी, जब उसका ब्याह हो गया था। ब्याह की बात से वह बहुत खुश हुई थी ! उसे रंग-बिरंगे कपड़े पहनाये जायेंगे। सिर पर लाल दुशाला। ऊपर से नीचे तक तरह-तरह के सोने-चाँदी के जेवर। यहाँ तक की नागफनी के काँटे से जब उसकी नाक बेधी गयी थी तो उस असह्य दर्द को भी वह नथ पहनने की ललक में झेल गयी थी ! यह कहते हुए बुआ के चेहरे पर एक व्यंग्य-भरी मुस्कान तिर्यक् हो गई थी, जैसे कह रही थी— 'हाय री सुहागिन ! कैसी नथ पहनी कि सधवा होते हुए भी विधवा-सी जी रही है !'

'फूफा जी दिखने में कैसे थे ?'

पूछने पर बुआ ने कहा था— 'सुन्दर थे, पर कैसे सुन्दर याद नहीं। हाँ, उनकी दाँत-पाटी को अब तक भी नहीं भूल पायी हूँ·········दूध की तरह सफेद और एकसार थी वह।'

'सामने आ जायें, तो पहचान लोगी ?'

'अब ! इतने वर्षों बाद ?' बुआ ने अपनी असमर्थता दिखाई थी— 'अब तक तो उनकी दाँत-पाटी भी हिल गई होगी············मेरी तरह !' यह कह कर वह मुस्कुराई थी।

'याद भी आती है कभी उनकी ?' उसने सहज भाव से पूछ लिया था। लेकिन, इस प्रश्न पर बुआ कुछ असहज-सी हो गई थी—'क्या दे गये, जो याद आयें !'

उस दिन उसे अनुभव हुआ था कि होठों पर सदा मुस्कान बनाए रखने वाली बुआ भीतर-ही-भीतर कैसी तड़फन लिए हुए है ! उसकी वह उलाहना-भरी कथन-भंगिमा जब भी याद आती है, उसे आँधी में उड़ कर आया कोई पीला पत्ता किसी कांटेदार पेड़ पर बिंधा हुआ फड़फड़ाता

दिखाई देता है— अपने अतीत से विच्छिन्न, अपने भविष्य से अनिश्चित, सूखकर जर्जर होने तक काँटे की उस सलीब पर फड़फड़ाते रहने के लिए अभिशप्त !

ब्याह के दिन बुआ की नन्हीं नाक में एक भारी नथ बलपूर्वक डाल दी गयी थी ! दर्द के मारे डोली में ही उसे बुखार आ गया था । उस रात वह सास के साथ सोई थी । दूसरे दिन ही उसे मायके लौट आना पड़ा था । ज्योतिष के अनुसार फिर बहुत दिनों तक लौटने का मुहूर्त्त ही नहीं था । लेकिन जिस मुहूर्त्त पर वह मायके लौटी वह शायद मायके से फिर ससुराल लौटने के लिए भी ठीक नहीं था ! नहीं तो बुआ फिर मायके में ही क्यों रह जाती ?

कुछ दिन बाद ही ससुराल से खबर आई कि लड़का किसी बात पर बाप से झगड़कर कहीं मैदानों की ओर भाग गया है । घर में चिन्ता व्याप गई थी । बेटी का दुख सोचकर दादी रोने-बिसूरने लगी थी । बुआ समझ नहीं पा रही थी कि आखिर इसमें रोने-जैसी क्या बात ! जिनका लड़का भागा, वे रोयें । ये क्यों बेहाल हुए जा रहे हैं ? बुआ के लिए ब्याह तब सिर्फ एक कौतुक था, जो तीज-त्योहार की तरह निबट गया था । उसे तब कहाँ मालूम था कि ब्याह तीज-त्योहार की तरह दोबारा नहीं लौटता । पत्नी के लिए पति का अर्थ तब उम्र उसके सामने खोल ही कहाँ पाई थी !

वर्ष-पर-वर्ष गुजरते गये; न फूफाजी लौटे, न सास-ससुर ने ही बुआ को बुलाया और न दादा-दादी ने ही उसे ससुराल भेजा । इस बीच पता चल गया था कि फूफाजी कहीं साधुओं की जमात में शामिल हो गये हैं । दादाजी दो-तीन बार उनकी तलाश में भी निकले, लेकिन साधुओं का क्या ठिकाना ! हर बार निराश लौट आये !

बुआ भी अब पूजा पाठ में अपना ढाडस खोजने लगी थी । सचमुच पूजा-पाठ-जैसी कोई चीज न होती तो शायद ही बुआ अपने अकेलेपन की जीवन-व्यापी विराट शून्यता को झेल पाती । कल्पित ही सही, उसने

उस शून्यता को भगवान से, उसकी भक्ति से, उसके प्रति अपनी तन्मयता से भर दिया और जीवन को गरिमा के साथ जीती चली आई। लोग इसी-लिए तो बुआ को 'भगतजी' कहते हैं।

दादा-दादी गुजरे, तो भाइयों में बँटवारा हो गया। बुआ का सवाल उठा तो भाइयों के बीच अपने बँटवारे की समस्या को सोचकर वह काँप उठी। अब उसे बारी-बारी सब भाइयों की देहली जोहनी पड़ेगी। सबके घर-बाहर के काम भी बारी-बारी देखने होंगे। नहीं इससे अच्छा तो वह ससुराल चली जाये। देवर साथ रखना पसंद करेगा तो ठीक, वरना अपना हिस्सा लेकर अलग रह लेगी। आजादी की रूखी-सूखी अच्छी, अपने ढंग से जी तो सकेगी!

लेकिन उसके पिताजी ने यह नौबत आने ही नहीं दी। तब वे नौकरी पर परिवार के साथ शहर में रहते थे। गाँव में अपने हिस्से की देखभाल के लिए उन्होंने बुआ की पूरी जिम्मेवारी अपने ऊपर ले ली। बुआ भी यह सोचकर मान गई कि इस तरह वह भी एक साफ-सुथरी जिन्दगी जी सकेगी। यह भी महसूस नहीं होगा कि वह किसी पर बोझ है और मुफ्त की रोटी तोड़ रही है। गाँव में घर-बाहर अकेले सँभालना कोई मामूली बात नहीं! छुट्टियों में कभी-कभार बड़े भैया सपरिवार आ भी गये, तो इससे कोई खास फर्क नहीं पड़ेगा; बल्कि घर में थोड़ी चहल-पहल ही रहेगी!

फिर तो जब भी वे छुट्टियों में गाँव गये, बुआ के सुप्रबन्ध में उन्हें कभी कोई असुविधा नहीं मिली। बुआ घर को चमन बनाकर रखती थी। दूसरे घरों में दिन में मक्खियाँ और रात में पिस्सू व खटमल। पर बुआ की नियमित लिपाई-पुताई और साफ-सफाई से घर बड़ा आरामदेह रहता था। अब माँ है, पर वह बात नहीं। अपनी माँ होने से ही क्या! जो सच्ची बात है, वह तो है ही।

उसने इंटर की परीक्षा दी थी, जब अचानक पिताजी गुजर गये। उनके परिवार को शहर छोड़कर गाँव आना पड़ा। वह आगे पढ़ना चाहता था, पर माँ का जोर नौकरी पर था। वह कहती—'यहाँ रोटी के ही लाले पड़ रहे हैं और तुझे पढ़ाई की लगी है।' वह बुआ के सामने भी अक्सर घर-खर्च की बात चला बैठती— 'दो लड़कियाँ ब्याहनी हैं। मुन्ना को भी कम-से कम हाई स्कूल तो कराना ही है। उनके फंड के थोड़े से रुपयों से आखिर यह सब कैसे निभेगा!' उस समय बुआ का चेहरा बुझ जाता था। आखिर उसे यह सब बार-बार क्यों सुनाया जाता है?

फिर वह दिन आया कि बुआ को घर छोड़ने को विवश होना पड़ा। बात यह हुई, मुन्ना जूता पहने रसोईघर में घुस गया था। यह देखकर चाय पीती बुआ आगे का घूंट नहीं भर सकी, एकदम डपटकर बोली, 'यह क्या मुन्ना! जा, जूते बाहर निकालकर आ।'

माँ भी वहीं बैठी थी। उसे बुआ की डपट दुत्कार-सी कहीं चुभ गई। बोली— 'कपड़े के जूते हैं, आ गया तो क्या हुआ!'

'जूते, जूते ही होते हैं भाभी!' बुआ ने समझाते हुए-सा कहा था— 'फिर बच्चों को सिखाना भी तो है। अभी से नहीं टोकेंगे, तो आगे चमड़े के जूते भी आने लगेंगे।'

'तब तक तो न मैं रहूँगी, न तू।' माँ कड़वा गई थी, 'जमाना कहाँ से कहाँ पहुँच गया, तू जूतों को लिए बैठी है!'

बुआ मर्माहत-सी चुप रह गई थी। एक करुण बेबसी का भाव उसके चेहरे पर छप गया था। वह चाय छोड़कर उठ गई थी। फिर उसने रसोईघर दुबारा लीपकर दोपहर का खाना बनाया था। कहने के लिए खाने पर बैठी भी थी, पर दो-चार कौर ही खा सकी थी। दिन भर वह किसी सोच में डूबी-सी गुमसुम रही। शाम को माँ के पास आकर बोली– 'भाभी, मैं ससुराल जाना चाहती हूँ।'

बुआ का यह निर्णय सुनकर जहाँ वह चौंक गया था, माँ सहज-

सी बोली थी— 'मैं नहीं कहती कि तू जा । अपनी तरफ से जाना चाह रही है, तो मैं रोक भी कैसे सकती हूँ ! वह भी तो तेरा घर है।'

बुआ की विदाई का वह दिन आज भी नहीं भूलता। बेहाल-सी बुआ फूट-फूट कर रोई थी ! ससुराल जाती दुल्हन भी इतना क्या रोती होगी ! उसके सामने मायके से जुदाई का दुःख होता है, तो नये जीवन के सुखद सपने भी होते हैं। लेकिन बुआ के सामने सिर्फ दुख था— दोनों तरफ का दुख ! अतीत उसे धकेल रहा था, भविष्य उसे बुला नहीं रहा था।

उस दिन साधु बने अपने फूफा पर उसे इतना गुस्सा आया था कि सामने होते, तो पता नहीं वह क्या कर बैठता ! सुना है, अब वे किसी आश्रम में महन्त हैं। खूब भंडारे चलते हैं। तर माल उड़ता है। ढेर सारे चेले-चाँटे मूँड रखे हैं। चेलियाँ भी हैं, जो महन्तजी के मुंडित सिर पर तेल मलने से लेकर पाँव दबाने तक की सारी सेवाएं बड़ी श्रद्धा-भक्ति से करती हैं। सेवा का मेवा प्रदान करने में गुरु महाराज की भी उन पर विशेष कृपा रहती है। पता नहीं, यह सब बुआ को भी मालूम है, या नहीं ! मालूम हो, तो भी क्या ! न हो, तो भी क्या ! उम्र ने जब जिन्दगी की सारी खेती ही चर दी, तो अब हवा बहे भी, तो कहाँ लहरायेगी ! न बहे, तो भी क्या फर्क पड़ता है !

*

मनिऑर्डर को लौटा हुआ देखकर वह हैरान रह गया। शायद बुआ ने लेने से इन्कार कर दिया ! लेकिन क्यों ? कहीं वह······? हस्ताक्षर के लिए मनिआर्डर फार्म लेकर देखा तो स्तब्ध रह गया। आशंका सच निकली। उस पर लाल रोशनाई से लिखा था— 'मृत्यु के कारण, वापिस।' हस्ताक्षर उसने ऐसे किये, जैसे न हाथ उसका हो, न हस्ताक्षर उसके।

पोस्टमैन उसके हाथ में नोट थमाकर चला गया। नोट पर गड़ी उसकी दृष्टि के सामने बुआ का चेहरा आ गया — एक साध्वी का शान्त मुस्कराता चेहरा। हवा के झोंके से नोट फड़फड़ाया तो उसे लगा जैसे कोई पक्षी पंख फड़फड़ाता उड़ा हो। बुआ का चेहरा गायब हो गया था। उसके स्थान पर द्वार-खुला खाली पिंजरा हिल रहा था। फिर वह भी उसकी डबडबाई आँखों में अदृश्य हो गया। गालों पर आँसुओं की जलती हुई लकीरें चलीं, तो उसकी स्तब्धता टूटी। आँसू पोंछते हुए उसने आवाज मारी— 'सुशील की माँ!'

'क्या हुआ?' कहती हुई वह कमरे में आई। उसका गम्भीर चेहरा और हाथ में नोट देखकर वह चौंक पड़ी— 'बुआ ने लौटा दिये क्या!'

'बुआ ने नहीं·········उसकी मौत ने।'

'क्या कहते हो?'

'हाँ, सुशील की माँ,' उसका स्वर उच्छ्‌वसित था, 'मनीऑर्डर फार्म पर यही लिखा आया।

फिर कुछ देर, जैसा कि ऐसे मौकों पर होता है, बुआ के बारे में शोक-संवेदना-भरी बातें चलती रहीं। क्या पाया बेचारी बुआ ने दुनिया में आकर·········जैसी आयी थी, वैसी ही चली गई············स्त्री होकर भी न पत्नी बन पाई, न माँ·········जीवन भर प्रकृति के प्रवाह के विरुद्ध तैरते चलना कोई मामूली बात नहीं, आदि आदि।

शोक का आवेग कुछ थमा तो वह बोला— 'इन रुपयों को अब अपने लिए रखना अच्छा नहीं लग रहा है।'

'तो?' पत्नी ने उसका इरादा जानना चाहा।

'बुआ के वार्षिक क्रियाकर्म के लिए उसके देवर के नाम भेज देते हैं।'
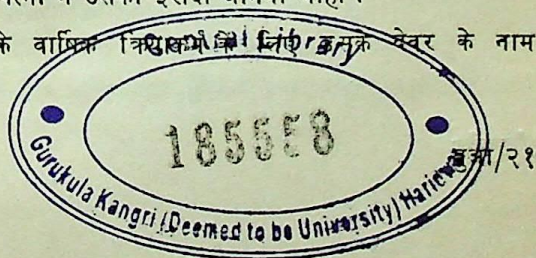
'देवर के नाम !' पत्नी के स्वर में तिरस्कार का भाव था, 'जिसने जीते जी बुआ के लिए कुछ नहीं किया, तुम समझते हो, वह इन रुपयों को उसकी बरसी पर खर्च करेगा ! फिर यह भी तो पता नहीं कि बुआ गुजरी कब ?'

'तो किसी गरीब को दान कर देते हैं,' उसने कहा— 'बुआ की आत्मा को शान्ति मिलेगी ।'

'अपने को अमीर समझते हो क्या ?'

'लेकिन............।'

'लेकिन-वेकिन कुछ नहीं,' पत्नी बात काट कर बोली— 'तुम्हारे वे चार सौ कब के खत्म हो गये । सुशील एक पैंट के लिए कहता ही रह गया ।'

वह प्रतिवाद नहीं कर सका । उसने चुपचाप नोट पत्नी की तरफ बढ़ा दिया । बुआ के लिए अपनी निरर्थकता की जिस कचोट से वह छुटकारा पाना चाहता था, वह अपनी जगह फिर कसक उठी ।

२/चिट्ठी

भीतर अकेलेपन में दम घुटता-सा लगा, तो वह बाहर आकर छज्जे पर खुली हवा में बैठ गया।

सामने पहाड़ की चोटी पर चीड़-वन में डूबते सूरज की अन्तिम बीमार धूप हाँफ रही थी। अपने अन्दर भी उसने चेतना की कुछ वैसी ही ज्वराक्रांत धूप महसूस की। लेकिन वहाँ हवा में झूमता चीड़-वन नहीं था, एक भयावह बियावान सन्नाटे की शून्यता थी, जिसकी झलक उसकी सूनी निस्तेज आँखों में व्याप्त थी।

उसने देखा, नाले के उस पार ढलान पर शंकर दा 'ऐं-ले, ऐं-ले' की जोर की आवाज से चरागाह में बिखरी चरती बकरियों को घर ले जाने के लिए बटोर रहा है। कैसी फुर्ती से उतर-चढ़ रहा है वह पहाड़ पर! कभी वह भी अपने गाय-गोरुओं के पीछे जंगल-जंगल भागता फिरता था। कितनी ताकत थी उसमें! गाँव से बहुत दूर नीचे नदी के किनारे चलती पन-चक्की से वापसी में चढ़ाई के रास्ते पर वह एक साँस में दस पाथा' आटा पीस कर ले आता था। और अब पता नहीं कहाँ खो गई वह ताकत! बरसाती गधेरे की तरह उफनती हुई उसकी वह तेजी, देखते-ही-देखते न मालूम कहाँ विला गई! अब हाल यह कि भीतर कमरे से छज्जे तक आने में ही जैसे जान निकल गई। कैसी धौंकनी सी हँफनी चल रही है उसमें!

तभी गधेरे के रास्ते पर नालदार वजनी बूटों की आवाज उसके कानों में पड़ी। वह समझ गया, रामकृष्ण मामा हैं। हर मंगलवार को पोस्टमैनी की अपनी गस्त के उस आखिरी मकान से होते हुए वे अपने गाँव लौटा करते हैं। उनका भाई फौज में है। उसी ने उन्हें वे बूट दिये

हैं और खाकी जर्सी भी, जिस पर लटकता हुआ उनका चमड़े का लाल रंग का थैला गाँव के पोस्टमैन की पहचान दूर से ही दे देते हैं। उन्हें देखकर ऐसा लगता है, जैसे फौजी पोस्टमैनी कर रहा हो। बिना मौजों के तस्मा विहीन ढीले बूटों को पत्थरों पर पीटते हुये वे चौक में आये तो उसने उन्हें अपने रोग-जर्जर अस्थिशेष हाथों से नमस्कार किया।

"चिरंजीव रह बेटा !" कह कर मामा चौक से सीढ़ियाँ चढ़ कर आये और छज्जे पर उसके पास बैठ गए। छज्जे पर दरी लाकर बिछाने के लिए वह कसमसाकर रह गया था। पोस्टमैन मामा ने लाचार निगाहों से उसे देखते हुए पूछा— "कैसी तबीयत है भास्कर ?"

यह सवाल भास्कर के लिए बड़ा दुखदायी होता था। जो आता, बस सबसे पहले तबीयत की ही पूछता। इस प्रश्न के साथ वह अपनी असलियत के अहसास से ग्रस्त हो जाता था। वह दिन-ब-दिन गिरती अपनी हालत देखकर महसूस करने लगा था कि अब दिये का तेल चुक गया है। जो यह क्षीण सी जिन्दगी की लौ दिखाई दे रही है, वह इस लिए कि शायद अभी बत्ती में तेल है। यह महसूस करते हुए भी उसने कहा— "ठीक हूँ मामा जी !"

वह जानता था, लोग उसकी तबीयत का हाल पूछ कर उससे "अच्छी है"— यही सुनना चाहते हैं। वह असलियत बताता है तो लोग झूठा दिलासा देने लगते हैं। झूठ के खोखलेपन के कारण उनके शब्दों में वजन नहीं होता। ऐसा लगता है जैसे होठों से बुलबुले उड़ते चले आ रहे हों जिनका हृदय की सच्चाई से कोई वास्ता नहीं। उनके चेहरों पर घिरा करुण निराशा का भाव साफ जाहिर कर देता है कि वे उसका मन रखने के लिए ही आश्वस्त कर रहे हैं वरना उसमें कुछ रहा नहीं कि जिन्दगी की आशा बँधे। इसलिए उसने भी लोगों का मन रखना शुरू कर दिया था। तबीयत का हाल पूछने पर यही कहने लगा था— "ठीक हूँ।" यह

सुनकर लोगों को तसल्ली होती थी और उसे भी अपने रोग की भयानकता में राहत मिल जाती थी। वह समझ गया था— मन रखने में झूठ, सच से अधिक कारगर होता है।

'बाहर हवा में क्यों बैठे हो, बेटा ? तबीयत खराब हो जायेगी।" पोस्टमैन मामा के स्वर में विवश हमदर्दी थी।

भास्कर के चेहरे पर एक करुण म्लान हँसी झलकी। तबीयत कौन सी सुधरी है जो खराब होगी। खराब ही तो है। इस इलाके में जहाँ न कोई डाक्टर है न वैद्य; भीतर चारपाई पर पड़े रहने से ही सुधरेगी भी क्या ! पर वह बोला— 'भीतर लेटे-लेटे ऊब गया था मामा जी।"

पोस्टमैन मामा भी मन ही-मन महसूस कर रहा था कि अब भास्कर के लिए भीतर-बाहर की सारी सावधानियाँ अर्थहीन हो गयी हैं। इसलिए उन्होंने बात बदलते हुए कहा— "घर में क्या कोई नहीं ?"

"मां और पिताजी डाँड के खेत गये हैं।" भास्कर ने कहा, "दीदी झरने पर गयी है पानी लाने। आती ही होगी।"

"यह चिट्ठी अपनी दीदी को दे देना।"

भास्कर ने लिफाफा लेकर प्रेषक की जगह पर जीजाजी का नाम पढ़ा। नाम के नीचे दिल्ली का पता लिखा था। अनायास उसे उस दिन की याद आई, जब दीदी ने पिताजी से कहा था— दिल्ली में ऐसे-ऐसे डाक्टर हैं, जो पुराना फेफड़ा निकाल कर उसकी जगह नया तन्दुरुस्त फेफड़ा लगा देते हैं।" यह सुनकर उसके पिताजी के चेहरे पर छाई प्रथम क्षण की चमक दूसरे ही क्षण न मालूम किस अँधेरे में बुझ गई थी। शायद वह अँधेरा दिल्ली में इलाज न करा सकने की उनकी विवशता का अँधेरा था। लेकिन जीजाजी तो विवश नहीं, उसने सोचा। यदि वह सही-सही बात उन्हें लिख भेजे, तो वे उसे जरूर वहाँ बुलालेंगे। वहाँ उसका इलाज हुआ तो वह जरूर अच्छा हो जायेगा। उसने पोस्टमैन मामा से कहा— "मामाजी, एक पोस्टकार्ड देना ······ पैसे दूसरी बार दे दूंगा।"

"पैसे की चिन्ता मत करो, बेटा ! तुम्हारे पिता जी से ले लूँगा ।"

पोस्टकार्ड देकर मामा सीढ़ियाँ उतर गये। भास्कर कुछ देर तक पथरीले चौक पर बजते उनके बूटों की आवाज सुनता हुआ उन्हें देखता रहा। गधेरे के रास्ते पर वे ओझल हुए, तो रुग्णता का अहसास उसमें फिर निराशा का अवसाद भरने लगा। वह दीवार के सहारे उठकर भीतर गया। जन्मपत्रियों के पास रखी पिताजी की दवात-कलम उठाकर धीरे-धीरे घिसटता-सा दरवाजे के पास आया। वहाँ कुछ उजाला था। वह चिट्ठी लिखने लगा–

"जीजाजी, कभी आप मेरे सुलेख की तारीफ करते थे। इसका श्रेय आप बाँस की कलम को देते थे। आज भी मैं बाँस की कलम से लिख रहा हूँ, लेकिन अक्षर आड़े-टेढ़े चल रहे हैं। मेरे पहले वाले सुलेख की तुलना में इन अक्षरों को देख कर आपको समझते देर नहीं लगेगी कि यह रोग से काँपते कमजोर हाथों का लेख है। अब हाथों से कलम भी नहीं सम्हल रही है। घर वाले 'नाग-नरसिंग' की मनौतियां मानकर समझ बैठे हैं कि यही मेरे रोग का इलाज है। इस तरह रोग दूर होते तो वैद्य-डाक्टरों की जरूरत ही क्या थी ? हमारे रोग 'नाग-नरसिंग' पूजकर ही दूर हो जाते। मेरा मन कहता है— दिल्ली में इलाज हो तो मैं अच्छा हो सकता हूँ। वरना खेल खत्म हुआ समझें ।

चिट्ठी समाप्त करके उसने लिखा था— "आपका डूबता भास्कर ।"

"क्या लिख रहा है, भासू !" दीदी का स्नेहिल स्वर था।

"जीजाजी के लिए चिट्ठी लिखी है दीदी ! पढ़ो तो; कुछ गलत तो नहीं लिखा। और हाँ, यह जीजा जी की चिट्ठी आयी है तुम्हारे लिए।"

दीदी अपनी चिट्ठी से पहले उसका पोस्टकार्ड पढ़ने लगी। भास्कर चारपाई पर लेट गया था। उसने देखा दीदी पत्र पढ़ते हुए उससे

छुपाकर आँसू पोंछ रही है। वह भीतर-ही-भीतर पिघल उठा। आत्म-करुणा के उस उफान को किसी तरह रोक कर वह बोला— "दीदी ! जीजाजी की चिट्ठी पढ़ कर तो सुनाओ, क्या लिखा है !"

दीदी चिट्ठी पढ़ने लगी। उसके बारे में केवल इतना ही लिखा था कि भास्कर की तबीयत कैसी है, लिखना। उसने दीदी से कहा— "दीदी ! कल किसी के हाथ मेरी चिट्ठी देवीखेत भेज देना। डाकखाने के लेटरबक्स से जल्दी पहुँच जायेगी।"

उसकी निराशापूर्ण कातरवाणी सुन कर दीदी विह्वल हो गई थी। जल्दी के आग्रह का उसका अर्थ उसे मथ गया था।

दूसरे मंगलवार तक भास्कर की हालत बराबर गिरती चली। गई। लेकिन मंगलवार को वह सुबह से ही खुश था। उसे पूरी आशा थी कि आज उसका जवाब आयेगा। चिट्ठी में उसे फौरन दिल्ली आने के लिए लिखा होगा। तब उसके पिता जी उसे 'पिनस' करके दुगड्डे तक ले जायेंगे, जहाँ वह पहली बार मोटर में बैठेगा। कहते हैं मोटर 'कूड़'(मकान) की तरह होती है और सड़क पर बड़ी तेजी से दौड़ती है ! लोहे के पत्तर से मढ़ी होती है, इसलिए उजड़ती नहीं। उससे वह देखते-ही-देखते कोटद्वार पहुँच जायेगा। वहाँ वह रेलगाड़ी में बैठेगा। डिब्बे-पर-डिब्बे जुड़े रहते हैं उसमें। पता नहीं कैसे होते हैं वे डिब्बे ! कहते हैं, पचासों आदमी बैठ सकते हैं एक डिब्बे में ! सबसे आगे उन्हें खींच कर ले जाने वाला एद इंजन होता है– एक विशालकाय काले दैत्य की तरह। वह मनों कोयला खाकर सैकड़ों गागरें पानी पीकर चिघाड़ता हुआ, तृप्ति की डकार-सा लेता हुआ दो पटरियों पर डिब्बों को उड़ा ले जाता है।...... दिल्ली में उस पर नया फेफड़ा लगेगा। तब यह खाँसी-बलगम कुछ नहीं रहेगा। बुखार भी छूमंतर हो जायेगा। फिर वह स्वस्थ होकर स्कूल में आगे पढ़ेगा। खूब पढ़ लिख कर जब बड़ा नौकर बन जायेगा तो माँ-बाप से कहेगा कि यहाँ खेती के नाम पर चट्टानों से टकराते जाने में

कोई फायदा नहीं, शहर चलो। नई जिन्दगी की उस शुरुआत को देखकर वे खुशी से फूल उठेंगे। आखिर वही तो उनका एकमात्र पुत्र है। उसे ही तो उनके सुख-दुख देखने हैं।

लेकिन पोस्टमैन मामा की चिट्ठी लाने की सुनहली संध्या रात के भयावह अँधेरे में खो गई। शाम को पिताजी के साथ हुक्का पीते हुए उन्हें चिट्ठी देने में देर करते समझकर वह अधीर होकर बोला— "मामा जी ! चिट्ठी तो देदो।"

लेकिन जब उन्होंने चिट्ठी न होने की बात कही तो उस पर ऐसी कमजोरी छाई, जैसे जान न रही हो। उसने बुझी आवाज में पिताजी से कहा— "पिताजी, एक पोस्टकार्ड लिया था मामा जी से। उसके पैसे···"

"मिल गये, बेटा !" पोस्टमैन मामा ने कहा।

भास्कर की साँसों की धौंकनी जोरों से चलने लगी थी। दूसरे मंगलवार को उसका जवाब आया, तो वह होश में नहीं था। माँ उसका सिर गोद में लिए रो रही थी। पिता जी चारपाई के पास कातर भाव से उसे देखते खड़े थे— विवश और निरुपाय। दीदी उस पर झुकी हुई भर्राए स्वर में कह रही थी— "भासू ! भुला ! देख, तेरा जबाब आ गया। यह देख चिट्ठी······तेरे जीजा की चिट्ठी।"

चिट्ठी के नाम ने बेहोशी के अंधेरे में खोई उसकी चेतना को जैसे बाहर खींच दिया, उसने आँखें खोलकर चिट्ठी की तरफ देखा। फटी-फटी आँखों के नीचे उसके होंठ फुसफुसाए— "क्या···लिखा···है।"

"तुझे दिल्ली बुलाया है भासू !" दीदी ने जल्दी से कहा, जैसे पूरी बात सुन लेने पर उसमें जान पड़ जायेगी।

भास्कर के चेहरे पर बुझने से पहले की चमक भड़की। उस रोशनी में एक क्षीण बुझता हुआ स्वर सुनाई दिया— "शहर···स्कूल··· डाक्···टर।"

और जिन्दगी के नाम मौत की चिट्ठी आ गई थी।

३/ अपराध बोध

नरोत्तम को मैं एक प्रकार से भूल ही गया था। स्मृतियों को धुँधलाने में बारह वर्ष कम नहीं होते। शुरु-शुरू में जब मैं अपने परिवार के साथ गाँव से बहुत दूर के इस शहर में रहने आया था, उसकी याद बड़ी चटकदार थी ! मन को बरबस अपनी ओर खींच लेती थी। समय के साथ उसकी यादों का रंग भी उड़ता चला गया। धूल-धक्कड़ और मौसम की मार से धुँधले-पड़े चित्र की तरह टँगा रह गया था वह मेरे मन में ! गौर से देखना पड़ता था, तब कुछ पहचान में आता था। अब याद की जगह पर एक ख्याल रह गया था कि गाँव के मिडिल स्कूल में वह भी मेरा एक सहपाठी था, जो एक दुर्घटना के तहत रातों-रात गाँव छोड़कर भाग गया था— दूर कहीं मैदानों की ओर। उस दुर्घटना को भी यादों ने इतनी बार दोहराया था कि उसकी भी मार्मिकता खत्म हो गयी थी, जैसे इतिहास की कोई मुर्दा घटना हो, जो मात्र जानकारी के रूप में दिमाग में रहती है— जीवन से असम्पृक्त !

लेकिन पिछली गर्मियों में गाँव जाने पर जब उसकी आगे की कहानी सामने आई, तो अतीत के कोहरे में खोई उसकी स्मृतियाँ न जाने किस तरह फिर से आँखों के सामने उजागर हो गई ! पता चला, गाँव से भागने के बाद वह दूर के एक शहर में एक प्रोफेसर के यहाँ घरेलू नौकर लगा। प्रोफेसर उसे मेधावी पाकर उस पर मेहरबान हो गये। काम के साथ वे उसे पढ़ने को समय और सुविधाएँ भी देते रहे। आज वह बी०ए०, बी०एड० करके एक हाई स्कूल में अध्यापक है। पटरी-उतरे अपने बाल-सखा को लाइन पर चलता सुनकर मुझे खुशी हुई। लेकिन जब आगे यह सुना कि वह आजकल नौगाँव आया हुआ है, मैं चौंक गया ! मेरे प्रश्नों के उत्तर के रूप में जो बात सामने आई, वह मुझे हैरानी में डाल गई। पता

चला कि गाँव छोड़कर भागने के बाद से वह बराबर विशाल की विधवा माँ को आर्थिक सहायता पहुँचाता रहा है। अब तो जब भी छुट्टियाँ होती हैं, माँ के पास आकर रहता है। माँ उसके लिए अपनी मां हो गयी है और वह माँ के लिए उसका अपना विशाल !

मेरी समझ में नहीं आ रहा था कि माँ ने उसे अपने बेटे की जगह कैसे दे दी ? जरूर वह अब तक अँधेरे में है। वरना उसे अपना पुत्र मानना तो दूर, वह उसका नाम सुनना भी पसंद नहीं करती। सामने आता तो उसका मुँह नोच देती। क्रोधाविष्ट होकर उसकी गर्दन पर हँसिया भी रख सकती थी। फिर यह सब कैसे संभव हो गया ? मैं नौगांव जाकर नरोत्तम से मिलने के लिए उत्सुक हो उठा। दूसरे दिन जाने का निश्चय लेकर जब रात को बिस्तर पर गया, तो बड़ी देर तक नींद नहीं आई। नरोत्तम के साथ की यादें आ-आकर झकझोरतीं रहीं। इतिहास-बना वह अतीत जीवन्त वर्तमान होकर आँखों के सामने आता चला गया।

*

पहाड़ के कंधे पर स्थित गाँव का मिडिल स्कूल। हम वहीं पढ़ते थे। तब दूर-दराज तक वही एकमात्र स्कूल था। चूने से पुती स्कूल की इमारत दूर के पहाड़ों से भी अपनी मटमैली पृष्ठभूमि में साफ चमकती दिखाई देती थी। उसकी ढलवाँ छतें टीन की थीं, जो डाँडे की रह-रहकर चलती तेज हवाओं में खड़खड़ा उठती थीं। स्कूल के आगे छोटे-से मैदान में जब चक्रवात बड़े वेग से घूमता, तो आकाश तक धूल का एक विशाल स्तम्भ-सा खड़ा हो जाता था। हम डर जाते कि कहीं यह डाँडे का भैरव स्कूल के अन्दर घुसकर टीन की छत उड़ाकर न ले जाये। टीन का कोई टुकड़ा या दीवारों के पत्थर इसके झटके से हम पर गिर गये, तो बच नहीं सकेंगे ! 'हे भैरवनाथ जी, दया करो। हम माँ से कहकर तेरे नाम की भेली फड़वायेंगे'— इस तरह बुदबुदाते हुए हम प्रार्थना करने लगते। चक्र-वात के उस घूमते हुए स्तम्भ के अदृश्य होते ही हमें लगता था कि भैरव-

नाथ जी ने हमारी प्रार्थना मान ली। पर, हमने भेली कभी नहीं फाड़ी। भैरवनाथजी भी हमेशा झाँसे में आकर शान्त होते रहे। ··· स्कूल खुलने का घंटा बड़ी देर तक बजता रहता था। उसकी आवाज कानों में पड़ते ही आस-पास के गाँवों के लड़के ऊँचे-नीचे पहाड़ी रास्तों पर बन्दर की तरह उछलते कूदते स्कूल की ओर दौड़ पड़ते। घाटी में गूँज भरती वह आवाज चारों ओर पहाड़ों पर उँचे बसे गाँवों में भी सुनाई देती। तब गाँव की किसी तिवारो में हुक्के पर महफिल जमाए गाँव के मर्द समय के अहसास से क्षण भर के लिए चौंक उठते। और खेतों में काम करती गाँव की औरतें हड़बड़ाकर कहतीं, 'हे मेरी बोई (माँ)! दस बज गये और जल्दी-जल्दी अपना काम समेटने लगतीं। अभी तो उन्हें दूर झरने से पानी लाना है। फिर खाना बनाना है। घर में सास-ससुर या पति के गुस्से की तनी खुँकरी का ख्याल आते ही वे कांप उठतीं।

स्कूल में हम चार-पाँच विद्यार्थी दूर गाँव के थे। स्कूल में रोज का आना-जाना हमारे लिए संभव नहीं था। हम बोर्डिंग में रहते थे, जिसे हम 'बोडिंग' कहा करते थे। सब लोग यही कहते थे, इसलिए हम भी यही कहने लगे थे। शनिवार को हमें गाँव जाने के लिए जल्दी छुट्टी मिल जाती थी। रविवार की छुट्टी बिताकर सोमवार को हम सुबह-सुबह अपने हफ्ते भर का बोरा (राशन) सिर पर उठाए बोडिंग में लौट आते थे। फिर वहाँ से स्कूल तक की लगभग एक फलाँग की चढ़ाई दौड़ते-हाँफते पार करते, ताकि समय पर स्कूल पहुँच जायें। कभी पहुँचने में देर हो जाती तो मास्साब' की 'भिउल' की लपलपाती सोटी पसीने से मुलायम पड़ी हमारी पीठ पर अनेक नीली धारियाँ खींच देती थीं। खून उछल पड़ता था। फिर दो-तीन हफ्ते तक हम नियमित रहते। पर पीठ पर पड़े सोटी के निशानों पर पपड़ी जमते ही हमारी पीठ फिर खुजला उठती और मास्साब की सोटी उस पपड़ी को फिर उखाड़ बैठती।

बोर्डिंग गाँव में था। बोर्डिंग क्या था, एक टूटा-फूटा मकान था, जिसका मालिक बरसों पहले भाबर जाकर बस गया था। उसके भाई-बन्दों ने मकान की दो ओबरियों (नीचे के कमरे) में हमें रहने की इजाजत दे दी थी। उनमें से एक ओबरी, जिसे हमने अपना किचन-घर तय किया था, हमसे पहले गाँव की कुतियों का प्रसूति-गृह थी। दूसरी ओबरी भी इसी तरह गन्दी पड़ी थी। गोबर और लाल मिट्टी के गाढ़े घोल से दोनों ओबरियों को अच्छी तरह लीपकर और सफेद कमेड़ा से दिवारें पोतकर हमने उन्हें वास-योग्य बनाया था। इस सारी साफ-सफाई की प्रक्रिया में पूरी मेहनत हमारी थी और नरोत्तम के केवल आदेश-निर्देश। बस आगे के लिए भी नरोत्तम इसी रूप में स्थापित हो गया था। उसने बोर्डिंग के सारे काम लड़कों में बाँट दिये थे। खाना बनाना, बर्तन माँजना, कमरों की साफ़-सफाई, झरने से पानी लाना आदि जितने भी काम थे, हम करते थे। नरोत्तम के बस हुक्म होते थे। वह उम्र में हम सब से बड़ा भी था और बलिष्ठ भी। रोब भी कुछ ऐसा था कि उसका आदेश मानते ही बनता था।

शुरू-शुरू की बात है नरोत्तम ने जब कामों का बँटवारा किया, तो खाना बनाने का काम उसने आलम सिंह को दिया। हम ब्राह्मण लड़के चौंक उठे। हमने आशंकित स्वर में कहा, 'नरोत्तम दा क्या जजमान के हाथ का भात-दाल खाओगे।'

इस पर उसने कहा, 'जजमान के हाथ का रोटी-साग खा सकते हो, हलवा-पूरी खा सकते हो, तो भात-दाल क्यों नहीं खा सकते ? रोटी-पूरी में तो हाथ भी लगता है, पर भात-दाल तो करछी के सहारे पकते हैं. करछी से परसे जाते हैं !'

हम ब्राह्मण लड़के एक दूसरे का मुहँ देखने लगे थे। हमें कोई माकूल जबाब नहीं सूझ रहा था। हम महसूस कर रहे थे कि उसकी बात

तर्क-संगत है, पर हमारे संस्कार उसमे सहमत नहीं हो पा रहे थे। हमारी उस मौन असहमति को भाँपकर नरोत्तम ने ऐलान-सा करते हुए कहा था, 'बोर्डिंग में न कोई ब्राह्मण है, न जजमान। यहाँ हम विद्यार्थी हैं, सिर्फ विद्यार्थी। यही हमारी जात है। दूसरी जात की बात भी नहीं होगी।'

इस ऐलान का कोई प्रतिवाद नहीं कर सका था। आलम सिंह हमको अपने हाथ का भात-दाल खिलाकर बड़ा खुश हुआ था। हमने भी खाकर महसूस किया था कि जजमान के हाथ का भात-दाल भी, भात-दाल ही होता है, उसमें कोई फर्क नहीं आता— वही स्वाद, वही तृप्ति। फिर यह निषेध क्यों चला आ रहा है? हम समझ नहीं सके थे।

विशाल और नत्थी उम्र में हमसे छोटे थे। शरीर से कमजोर भी। खाना बनाना उन्हें आता नहीं था, इसलिए वे आलमसिंह के विकल्प भी नहीं बन सकते थे। जूठे देगची-भड्डू माँजकर चमकाने के लिए जो ताकत अपेक्षित है, वह भी उनके लचकदार हाथों में अभी पैदा नहीं हुई थी। इसलिए नरोत्तम ने उन्हें झरने से पानी लाने के काम पर लगा दिया था। झरना काफी दूर नीचे गधेरे में था। उतराई के रास्ते पर वे दौड़ते हुए जाते और वापसी में चढ़ाई के रास्ते पर हाँफते हुए आते। बाँज के डंडे के बीच में गड़ी दो कीलों के सहारे बाल्टी लटकाकर वे पानी ढोया करते थे। दो बाल्टी सुबह, दो शाम को। चढ़ाई के कंकरीले रास्ते पर बोझ के नीचे उनके पाँव नंगे होते। फिर भी उन्हें काम के इस बँटवारे से कोई शिकायत नहीं थी। दुख उन्हें तब होता था जब अपने काम के लिए भी हम उन्हें पुकारते। एक दिन हमारी चाकरी से तंग आकर विशाल रुआँसे स्वर में झुंझला उठा था,'हमें छोटा देखकर सब हम पर हुकुम चलाते हैं! हमारा काम भी कोई करता है? ·········यह देखो, पानी ढोते-ढोते हमारे कन्धों पर छाले पड़ गये हैं।' यह कहकर उसने बाँज के डँडे से छिले अपने दोनों कन्धे दिखाये थे। फिर गर्दन मोड़कर खुद भी उन्हें देखता हुआ बोला था, 'पहले ये निशान लाल थे, अब नीले पड़ गये हैं।' यह कहते हुए अपनी दयनीयता के

अहसास से वह रो पड़ा था । यह देखकर हम भी उसके लिए दया से भर उठे थे । तब हमने उसे गुड़ की डली देकर खुश किया था । साथ ही नरोत्तम ने कहा था, ' कोई आगे इनसे अपना काम नहीं लेगा । वरना पानी लाने के काम पर लगा दिया जायेगा ।' यानी हमारी दृष्टि में पानी लाना एक सजा थी, जिसे विशाल और नत्थी खुशी-खुशी किया करते थे । न मालूम क्यों ? शायद झरने पर आई गाँव की औरतों की तरह-तरह की बातें सुनने, या उन्हें नहाते-धोते देखने का एक अजीब सुखद भाव इसका कारण रहा हो । वे तब उम्र के उस दौर से गुजर रहे थे, जिसमें औरतें रहस्य होती हैं और मन में होती है— उस रहस्य को जानने की तीव्र उत्कंठा । एक बार विशाल ने कहा भी था, 'गाँव की औरतें हमसे शरमाती नहीं । हमारे सामने ही नहाने बैठ जाती हैं ।' फिर भी निश्चयपूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता कि वे पानी लाने जैसे उस कठिन काम से खुश क्यों थे !

हाँ तो, बोर्डिंग में नरोत्तम का वर्चस्व स्वयमेव स्थापित हो गया था । खाना तैयार होता तो हम दो कनस्तर आमने-सामने रख देते । एक पर नरोत्तम बैठता और दूसरे पर उसकी खाने की थाली । बारी-बारी से हम घी की डली भी उसकी दाल में डाल दिया करते थे। इसके लिए अपनी ओर से उसका न कोई संकेत था, न दबाव । यह हमने आपस में खुद तय किया था । हम जानते थे कि वह अनाथ है । चाचा के साथ रहने के लिए विवश । चाची ऐसी बेरहम है कि हफ्ते भर का राशन भी पूरा नहीं देती ! घी का तो सवाल ही नहीं उठता । इसलिए अपने खाने-पीने की चीजों में उसका भी हिस्सा हमने मान लिया था । यह उसके दबाव से नहीं, अपने सद्भाव से करते थे । दबाव उसका किसी बात में नहीं था । वह तो उसके व्यक्तित्व में ही कुछ ऐसी बात थी कि हम उसके प्रभाव में आ गये थे । भले ही उसने कोई काम नहीं ले रखा था, लेकिन सब से ठीक ढंग से काम ले लेना भी तो एक बहुत बड़ा काम है । इसमें वह माहिर

था। हम सब खुशी-खुशी उसके आदेश का पालन करते।

एक रात की बात है, यही कोई नौ-दस बजे का समय रहा होगा गाँव में सन्नाटा खिंच गया था। चीड़-वन की सरसराहट वातावरण में हहरा रही थी। हम अपनी ओबरी में लालटेन की रोशनी में बैठे छमाही इम्तहान के लिए, जो बिलकुल पास आ गयी थी, महत्त्वपूर्ण प्रश्नों पर घोटा लगा रहे थे। बाहर के सन्नाटे में कमरे के अन्दर का वह कोलाहल अत्यन्त मुखर था। हम आगे-पीछे हिलते हुए रटन्त विद्या में लगे थे, पर नरोत्तम चुपचाप किसी सोच में डूबा-सा अपने बिस्तर पर कोहनी के बल लेटा हुआ था। हम रटते हुए सोच रहे थे कि कैसा है यह, इसे परीक्षा की जरा भी चिन्ता नहीं। लेकिन हम यह भी जानते थे कि वह हमको पढ़ता सुन-कर ही पास हो जाता है!

'चलो मेरे साथ।' अचानक नरोत्तम उठकर बोला। हमारा द्रुतगति से चलता सस्वर पाठ एकदम ठिठक गया था।

'क्या बात है, नरोत्तम दा!' हमने पूछा, पर हमारे प्रश्न को एक ओर धकेल कर वह कुलानन्द से बोला, 'अपना चाकू साथ रख ले।'

'चाकू! वह भी कुलानन्द का!' चौड़े फाल का तेज चाकू था उसके पास, जो उसने अपने गाँव के लोहार से टोपी-भर चावल के बदले में शौकिया बनवाया था। हम घबरा गये थे। आखिर चाकू से क्या मतलब? वह भी आधी रात के समय!

नत्थी और विशाल को वहीं रहने के लिए कहकर उसने हमसे कहा, 'आओ मेरे पीछे।'

नत्थी और विशाल कमरे में अकेले रह जाने के डर से आतंकित होकर बोले, 'दादा, हम भी साथ चलेंगे।'

'नहीं, तुम्हारा वहाँ कोई काम नहीं।' यह कहकर उसने एक बोरा अपनी बगल में दबाया और हमें पीछे आने का इशारा देकर चल

पड़ा। चाकू, बोरा और अँधेरी रात का विचार हममें भयानक रहस्यमयता की सृष्टि रच रहा था। फिर भी हम यंत्रचालित-से नरोत्तम दा के पीछे चल रहे थे।

गाँव के बीच से दबे पाँव गुजरते हुए जब हम गधेरे के किनारे प्रधान जी के कदली-कुँज में पहुँचे, तो हमारी जान में जान आई। नरोत्तम दा के उस साहसिक अभियान का उद्देश्य हमारे सामने स्पष्ट हो गया था। हम समझ गये थे कि कई दिनों से जिस केले की फिरकी (चरखी) को हम खाती हुई निगाहों से घूरते आ रहे थे, वही हमारे चाकू- बोरे का लक्ष्य है। हमने झटपट केले के पेड़ पर लगा बाँस का टेका खींचकर उसे झुकाया। छप्प-से केले की फिरकी काटी और एकदम बोरे में रखकर सीधे कमरे में आकर ही दम लिया। उस गधेरे में गड़े काँटों की चुभन और बिच्छूघास की जलन भी हमने सकुशल कमरे में लौट आने पर ही महसूस की। फिरकी इस तरह छिपाकर पकाने रख दी कि गांव का कोई आदमी आये तो टोह न ले सके।

सुबह हम झरने से लौट रहे थे, तो पधानी को हमने चीख-चीख कर गाली देते सुना। वह अपने चौक की मुँडेर पर तनी ख़ड़ी थी और केले की फिरकी चुराने वाले को कीड़े पड़ने से लेकर हैजा होने तक जितनी भी घातक और वीभत्स गालियाँ हो सकती हैं, धारा प्रवाह दिये जा रही थी।

जब हम पास से गुजरे तो नरोत्तल पधानी को सुनाता हुआ हमसे बोला, 'कैसे हैं, इस गाँव के लोग ! हमारे गाँव में तो पराई चीज को गाय-गोरुओं की हड्डी समझते हैं।'

हम मुश्किल से ही अपनी हँसी रोक सके थे। कैसा है यह नरोत्तम ! कल जिन्हें खायेगा, उन्हें आज गाय-गोरूओं की हड्डी बता रहा है ! उसके कथन का उद्देश्य साफ था। पधानी का शक कहीं हमारी

ओर मोड़ न ले ले, यह सोचकर उसने गाय-गोरूओं की हड्डी की एक मजबूत आड़ खड़ी कर दी थी ।

जिस दिन रात को गाँव की ओर से निश्चिन्त होकर हम पके केले खा रहे थे, हमने विनोद करते हुए कहा, 'हड्डियाँ' तो बड़ी मुलायम हैं. नरोत्तम दा !' हमारा परिहासपूर्ण व्यंग्य समझकर वह बोला था, 'पराई तो केले की कच्ची फिरकी थी, वह हमने कहाँ खायी ? हम तो अपनी मेहनत के पके केले खा रहे हैं ।

बड़ा चतुर था नरोत्तम दा—विलक्षण सूझ-बूझ का धनी । एक बार की बात है, हम काफल बीनने जंगल गये । जिस पेड़ पर नजर डालते, बिना-हुआ मिलता । बहुत कम काफल हाथ लगे । घर लौटते हुए हमने देखा कि नरोत्तम दा एक काफल के पेड़ के तने पर हल्दी से पीला किया हुआ धागा लपेट रहा है । क्या मतलब ? हम समझ नहीं सके । फिर उसने तने पर सिन्दूर छिड़का और लाल कपड़े में बँधी सुपारी उस धागे से बाँधकर लटका दी । उसके पास पहुँचकर हमने पूछा, 'यह क्या पूज रहे हो ?' तो उसने उठकर चलते हुए कहा, 'शनिवार को मालूम हो जायेगा ।' हमने बहुत पूछा, पर उसने बताकर नहीं दिया ।

शनिवार को स्कूल से जल्दी छूटकर गाँव जाते हुए, उस काफल के पास पहुँचे, तो खुशी से उछल पड़े । पेड़ काले-काले फलों से लदा था। उनकी खट-मिठ महक वातावरण में फैली थी । चारों ओर मधुमक्खियाँ आनन्द-नृत्य-सा करती भनभना रही थीं । यह देखकर नरोत्तम ठहाका मारकर हँस पड़ा। फिर बोला, 'देखा ! मेरा सोचना कितना सही निकला ? मुझे विश्वास था कि यही होगा । इसी से तो मैं पूजा-सामग्री इधर-उधर से इकट्ठा करके पहले ही ले आया था । लोगों ने पेड़ को पुजा हुआ देखकर समझा कि यहाँ परी, या कोई भूत-प्रेत पूज रखा है । बस डर के मारे कोई पेड़ पर चढ़ा ही नहीं । ऐसी- तैसी में जायें काफल । काफल बड़े या

जान बड़ी ? और चुपचाप जान बचाकर यहां से खिसकति खिसकतः खिसकन्ति हो गये ।'

उस दिन हम, टोना-टोटके पर लोगों के विश्वास के कारण, थैला भर-भर काफल गाँव ले गये थे—बड़े-बड़े काले और रसीले दानों वाले काफल। घर में जाकर यह किस्सा सुनाया, तो सब खूब हँसे। फिर तो यह किस्सा गाँव से गाँव होता हुआ इतना फैला कि सचमुच की परी भी किसी काफल पर पूजी गई होती, तो भी लोग यही समझते कि यह किसी की नरोत्तम- मार्का शरारत है। वे बेखौफ पेड़ पर चढ़ जाते।

ढेर सारी बातें हैं नरोत्तम दा के बारे में। बड़ा विचित्र जीव था वह। लेकिन एक दुर्घटना ने उसकी जीवन की धारा ही मोड़ दी। ब्रह्म हत्या की तरह वह उसे निरन्तर दौड़ाती रही।

हम छात्रावासियों को जंगल से लकड़ियाँ लाने के लिए महीने में दो बार आधे स्कूल के बाद छुट्टी मिल जाया करती थी। उस दिन मास्टरजी की सोटी की छत्रछाया में चलती आतंकपूर्ण पढ़ाई से मुक्ति तथा वन-विहार की निर्द्वन्द्वता पाकर हम मस्ती से भर उठते थे। जंगल की टहनी-टहनी-फुदकती पिंजरमुक्त चिड़िया की तरह हम भी चहक उठते थे। जंगल में हम जमीन पर गुदगुदे गद्दे-से बिछे चीड़ के सूखे पत्तों पर सपाटे से फिसलते हुए नीचे चले जाते। जब देखते कि आगे ढलान खतरनाक है, किसी चीड़ के पेड़ पर पाँवों का टेका लगा देते। इस फिसलन-क्रिया में स्केटिंग का-सा सर्राटेदार आनन्द आता था। कोई डर के मारे इस खेल से अलग रहता, तो हम उसे हल्की-सी पुट्ठी मार देते। वह फिसलते हुए ए–जा, ओ–जा हो जाता। उसकी अचकचाई हालत देखकर हम ठठाकर हँस पड़ते। कोई किसी पेड़ की लचकदार टहनी पर बैठकर जोर-जोर से झकोले खाता, तो कोई खाने के लिए दूधिया घास तोड़ता फिरता। जब देखते कि टाइम कम रह गया है, हम फुर्ती से लकड़ी तोड़ने-बटोरने के काम में जुट जाते। कोई पेड़ पर चढ़कर लकड़ियाँ तोड़ता तो कोई नीचे से

सूखी शाखाओं पर रस्सी फंसाकर खींचता। ये दोनों काम नत्थी और विशाल के वश के नहीं थे। वे जमीन पर बिखरी सूखी टहनियाँ बीना करते। विशाल कुछ ज्यादा ही कोमल था हम अक्सर कहा करते, इसे तो लड़की होना चाहिए था। पता नहीं, भगवान को क्या सूझी कि लड़की बनाते-बनाते वह इसे लड़का बना बैठा। शरीर ही नहीं, उसकी आवाज भी लड़कियों की तरह कोमल और खनकदार थी।

उस दिन वह लकड़ियाँ बीनते-बीनते नीचे गधेरे के किनारे एक पेड़ के नीचे जा पहुँचा। पेड़ पर जंगली बर्रों का एक बड़ा छत्ता भरी-बोरी की तरह लटका था। वह उसे गौर से देखने लगा। नरोत्तम दा की नजर उस पर पड़ी तो बोला, 'अरे उसे देखो! कैसा मुँह बाए देख रहा है! जैसे इसके मुँह में ऊपर से शहद टपकने ही वाला है!' यह कहकर उसने यों ही विशाल को चौंकाने के उद्देश्य से एक पत्थर घुमाकर उस पेड़ की तरफ फेंका। कभी चाहते हुए भी निशाना नहीं लगता, कभी न चाहते हुए भी वह अचूक हो जाता है। पत्थर सीधे जाकर छत्ते पर बैठा। चारों तरफ भनभनाहट फैल गई। विशाल चीखता हुआ दौड़ रहा था। वह बर्रों से बचने के लिए मुँह के चारों ओर तेजी से हाथ हिला रहा था। ढलान की जगह थी और वह बुरी तरह घबराया हुआ। उस पर पाँवों के नीचे चीड़ के सूखे पत्तों की फिसलन। वह तेजी से लुढ़कता हुआ नीचे चट्टानी गधेरे (बरसाती नाला) में जा गिरा। एक हृदय- विदारक चीख वातावरण में गूँज उठी। हमारे काटो तो खून नहीं। किसी तरह गधेरे के रास्ते नीचे पहुँचे, तो वहाँ खड़ी चट्टानों के बीच बुरी तरह छितो हुई विशाल की लाश देखी न गई। मौत की उस विभीषिका से आतंकित हमारी चीख छूट गई। सामने के पहाड़ पर बसे गाँव में हमारी चीख-चिल्लाहट की भयाक्रान्त आवाज पहुँची, तो वहाँ से किसी ने आवाज मारी, 'हे नरोत्तम ऽऽ! अरे क्या हुआ? बाघ तो नहीं पड़ गया?' लेकिन हम रोते-चीखते ही रहे। क्या जवाब देते।

विशाल की लाश को लेकर नीचे घाटी में उतरे ही थे कि उधर-गाँव से भी तीन-चार आदमी दौड़ते हुए चले आये। पूछने पर हमने केवल इतना ही बताया कि यह फिसलकर गिरने से मरा है। नरोत्तम तब से ही बिल्कुल चुप था, जैसा गूँगा हो, जो सुनता भी नहीं। उस अप्रत्याशित आतंकपूर्ण घटना ने जैसे उसकी चेतना को बुरी तरह जकड़ लिया था, इस तरह स्तब्ध और अवाक्।

'जहाँ यह गिरा, वहाँ खून पर मिट्टी भी डाली तुमने ?' गाँव के एक आदमी के पूछने पर जब हमने कहा कि हमें इसका ख्याल ही नहीं रहा, तो वह झिड़ककर बोला, 'गजब कर दिया तुमने ! फौरन जाओ और खून को अच्छी तरह मिट्टी से पाटकर आओ। बाघ चाट लेगा, तो मनुष्य-भक्षी हो जायेगा।'

हम दो लड़कों को, न चाहते हुए भी वहाँ जाने के लिए तैयार होना पड़ा। इस सदमे से हमारे हाथ-पाँव ऐसे फूल गये थे कि वह एक फर्लांग की चढ़ाई भी हमारे लिए अलंघ्य हो गई थी। किसी तरह वहाँ पहुँचे। चट्टान पर पपड़ियाए खून को देखकर फिर प्राण उमड़ पड़े। हम मिट्टी डाल रहे थे और रो रहे थे। 'हाय विशाल ! तू कहाँ चला गया ? तेरी माँ सुनेगी तो उस पर क्या बीतेगी ?' इस तरह विशाल को सुमर-सुमर कर हम कलप उठे थे।

जिस समय लाश लेकर गाँव पहुँचे, शाम हो चुकी थी। पर्वत-शिखरों पर सूरज की अन्तिम बीमार धूप आखिरी साँस गिन रही थी ! सरसराती हवा जैसे सिसकियाँ भर रही थी !

बोर्डिंग के सामने चौक में लाश रखकर हमने उस पर चादर डाल दी थी। हमें कुछ नहीं सूझ रहा था कि अब क्या करें ! हम किंकर्त्तव्यविमूढ़-से अपने घुटनों में सिर डाले एक ओर बैठे थे। देखते-ही-देखते सारा गाँव इकट्ठा हो गया। औरतें शोकावेग में छलक उठी थीं, 'बेचारा बड़ा भला लड़का था ········· जब तक हम नहा-धोकर पानी नहीं भर

लेती, हँसता-बतियाता झरने के किनारे बैठा रहता था·········सुनते हैं इसकी माँ जवानी में ही विधवा हो गई थी·········हाँ, यही एक सहारा था, वह भी भगवान ने छीन लिया !'

'अरे, इस तरह क्या चुपचाप बैठे हो !' ग्राम-प्रधान ने आकर हमारे उमड़ते हृदय को एकदम स्तम्भित कर दिया था, 'दो-तीन लड़के जाकर इसके घरवालों को बुला लाओ। लालटेन साथ ले लो, अँधेरी रात है। और हाँ, एक लड़का जाकर अपने हेड मास्टर को बुला लाये।'

विशाल का गाँव नजदीक नहीं था। उस पर उतरती हुई रात। रास्ते में हिउल नदी का मरघट। कैसे जाय ? सोच ही रहे थे कि नरोत्तम चीखता-सा खड़ा हुआ, 'मैं जा रहा हूँ,' और बिना किसी को साथ लिये एकदम हवा हो गया।

रात भर हम हेडमास्टर साहब के साथ मुर्दा जागते रहे। ओह, कितनी भयावनी और घुटन-भरी रात थी वह !

अभी सुबह का उजाला पूरा भी नहीं खुला था कि विशाल के गाँव से चार आदमी शव ले जाने के लिए खटला (खाट) लेकर आ गये। उनके साथ नरोत्तम को न देखकर हमने पूछा, 'नरोत्तम दा कहाँ है ?'

'कौन नरोत्तम ?'

'वही जो खबर देने गया था।'

'वह तो रात ही चला आया था। क्या नहीं लौटा ?'

हम समझ गये थे कि वह अब नहीं लौटेगा। लेकिन गया कहाँ ? अधर में लटका यह सवाल अब जाकर जमीन पर उतरा है।

*

सुबह मुँह अँधेरे चलकर करीब दस बजे नौगाँव पहुँचा। जेठ का दिन दोपहर की तेजी पकड़ गया था। खेती-बाड़ी और जंगल के काम पर गये औरत-मर्द घर लौटने लगे थे। पूछता-पाछता विशाल के घर के सामने पहुँचा, तो नरोत्तम दुमंजले पर तिबारी और छज्जे के बीच एक

खंबे पर पीठ टिकाये पढ़ता दिखाई दे गया। चौक में मेरे बूटों की आवाज सुनकर ध्यान उचटने से वह चौंक-सा गया। वह मुझे गौर से देखता रहा, पर पहचान नहीं सका। वरना उछल पड़ता। मैं भी उसे किसी दूसरी जगह बिना किसी संदर्भ के देखता, तो शायद ही पहचान पाता। शायद क्यों बिल्कुल नहीं। इन बारह-तेरह वर्षों में अच्छे डील-डौल का एकदम बदला हुआ खूबसूरत नौजवान हो गया था वह !

चौक से सीढ़ियाँ चढ़कर जब मैं छज्जे के पास पहुँचा, मैंने मुस्कराते हुए कहा, 'नहीं पहचाना ?'

मेरे प्रश्न में उसके लिए पहचानने का आग्रह छिपा हुआ था। मैं जानना चाहता था कि वह पहचान पाता है या नहीं ?

वह कुछ देर मुझे गौर से देखता रहा। जैसे धुँधली पड़ी स्मृतियों को टटोल रहा हो। फिर खुशी से चीख पड़ा, 'अरे मुकुन्द !' और झपटकर मुझे अपनी बाँहों में भरते हुए बोला, 'तेरे माथे पर चोट का यह अर्धचन्द्र-निशान न होता, तो पहचान ही नहीं सकता था। कितना बदल गया है तू !'

फिर तो बातों का एक अटूट सिलसिला शुरु हो गया। एक-दूसरे के बारे में ढेर सारे सवाल थे जवाब की तलाश में। बातों-ही-बातों में विशाल का प्रसंग आया, तो मैंने कहा, 'माँ का सहारा बनकर तुमने बहुत बड़ा काम किया, नरोत्तम दा !'

यह सुनते ही वह गंभीर हो गया था। खुशी से चमकते उसके चेहरे पर जैसे कोई बदली आ गई थी। मैं समझ नहीं सका कि आखिर मैंने गलत क्या कहा ! इसके इस अवसाद का कारण यदि मेरे कथन में नहीं, तो कहाँ है ? मैं सोच ही रहा था कि वह बोला, 'बड़प्पन कुछ नहीं, मुकुन्द ! सब स्वार्थ-सेवा है। सच तो यह है कि मैं विशाल की चीख से उबरना चाहता हूँ। इतने वर्ष गुजर गये, पर उसे भुला नहीं सका हूँ। जब भी

भूलने का प्रयास करता हूँ, वह चीख और भी अधिक बुलन्द होकर मुझमें गूँज उठती है। मैं स्तब्ध रह जाता हूँ, जैसे वह घटना अपने पूरे आतंक के साथ फिर सामने घट रही हो। तब माँ की सेवा में ही मुझे शान्ति मिलती है। तुम ही नहीं, और भी कई लोग कहते हैं कि बेसहारा का सहारा बनना एक ऊँचा काम है। लेकिन मैं जानता हूँ कि माँ की सेवा के नाम पर मैं केवल अपने मन का चैन खोज रहा हूँ।'

वर्षों पूर्व की कोई घटना इस तरह किसी की चेतना में बद्धमूल रह सकती है, मैं विश्वास नहीं कर पा रहा था। अविश्वास का भी कोई आधार मेरे सामने नहीं था। इसलिए उसकी बात को यथावत् स्वीकार करते हुए मैंने पूछा, 'क्या माँ को यह सब मालूम है ?'

'नहीं।' नरोत्तम ने विश्वास के साथ कहा, 'वह इसका कारण मेरी मातृहीनता और विशाल से मेरी दोस्ती समझती है। मैं चाहता भी नहीं कि उसे यह सब मालूम हो। प्रायश्चित्त का यह द्वार बंद हो गया तो डर है कि कहीं मैं घुटकर पागल न हो जाऊँ।'

'तुमने यह बेकार की ग्रन्थि पाल रखी है,' मैंने उसे आश्वस्ति देने के उद्देश्य से कहा, 'वह एक दुर्घटना थी, जो की नहीं जाती, हो जाती है। जो हुआ, वह अप्रत्याशित था, तुम्हारा चाहा हुआ नहीं था।'

उसने मेरी बात इस तरह सुनी, जैसे उसके लिए कोई नई बात न हो। और जैसे वह इस तरह भी अपने आपको समझाकर देख चुका हो। वह अपनी ही रौ में बहता हुआ बोला, 'वह रात भी अक्सर मेरे मन को घेर लेती है, जब यहां आकर मैंने विशाल की मौत की खबर माँ को दी थी। माँ फटी-फटी आँखों से मुझे देखती रह गई थी, जैसे उसे विश्वास न हो और अविश्वास भी न कर पा रही हो। फिर एकटक घूरती निगाहों से मुझे देखते हुए इतनी जोर से चीख पड़ी थी कि सोता गाँव हड़बड़ाकर जाग उठा था। देखते-ही-देखते सारा गाँव इकट्ठा हो गया। माँ छाती कूटती विलाप कर रही थी। मेरी चेतना पर इतना दबाव बढ़ गया था कि मैं

विक्षिप्त-सा बाहर की तरफ झपटा और फिर छज्जे से सीढ़ियाँ फलाँगता हुआ अंधाधुंध गांव के बीच से होता हुआ भागता चला गया। गाँव के बाहर आया तो कुछ होश हुआ। चारों ओर पहाड़ी रात का गहन रहस्यपूर्ण अन्धकार! क्या करूं? कहाँ जाऊं? कुछ समझ में नहीं आ रहा था। मैं एक चट्टान की खोह में जा बैठा। रात भर सोचता रहा, बल्कि सोच के नाम पर एक भयंकर उथल-पुथल दिमाग में चलती रही। अन्त में एक विचार मेरे मन में कौंधा— क्यों न मैं माँ के लिए विशाल का विकल्प बन जाऊँ? और देखते-ही-देखते यह सवाल मेरी समस्या का जवाब बन गया था। तब से मैं बराबर माँ से जुड़ा रहा हूँ। माँ भी मुझे अपना ही बेटा समझने लगी है। लेकिन यहाँ भी एक खरोंच बराबर मेरे मन में कसकती रहती है कि मैंने माँ को धोखे में रखकर उसका प्यार छीना।'

इस पर जब मैंने उसे सलाह दी कि वह माँ को सब कुछ सच सच बता दे, तो वह घबराकर बोला, 'इसका परिणाम भी जानते हो? जब उसे पता चलेगा कि मैं उसका पुत्रहन्ता हूँ, तो क्या वह उस आघात को सह सकेगी? और उसकी दुत्कार-फटकार पाकर तब क्या मेरा जीवन और नारकीय नहीं हो जायेगा?'

'तुम्हारा सोचना इकतरफा है, नरोत्तम दा!' मैंने कहा, 'स्थिति के दूसरे पहलू पर तुम्हारा ध्यान नहीं गया। तुम इस तरह बात छिपाकर माँ का प्रेम पाने में तो सफल हो गये, लेकिन जिस अपराध-बोध से तुम ग्रस्त हो, उसके लिए तुम्हें माँ से क्षमा की जरूरत है। यह तभी होगा, जब तुम माँ के सामने सारी बात रखकर उससे क्षमा माँगो। मेरा विश्वास है कि माँ तुम्हें क्षमा कर देगी। विशाल अब तक भूली-बिसरी बात हो गया है। तुम भी काफी प्रायश्चित्त कर चुके हो............।'

अचानक नरोत्तम ने चुप रहने का इशारा करते हुए दबी आवाज में कहा, 'माँ आ रही है।'

मेरी आँखें चौक के उस पार रास्ते की ओर उठ गई। माँ घास

की एक भारी बिठकी (गट्ठर) सिर पर उठाये चौक की ओर चली आ रही थी। चेहरा बिठकी से ढका था, इसलिए कोई पहचान पैदा नहीं हो सकी। चौक में बिठकी एक ओर डालकर जब उसने चेहरे पर आ गये बालों को सिर पर पीछे की ओर करते हुए ऊपर तिबारी की ओर देखा, तो मुझे वह चेहरा कुछ पहचाना-सा लगा। मैं घड़ी भर सोचता रह गया कि माँ को कहीं पहले देखा है, तो कहाँ ? अचानक ख्याल आ गया। माँ के चेहरे में विशाल की झलक थी, जो मुझे भ्रम में डाल गई थी। जब माँ ने चौक में खड़े-खड़े पूछा, 'किससे बतिया रहे हो, नरोत्तम !' तो आवाज में भी आश्चर्यजनक रूप से वही विशाल वाली खनक थी। भूला-बिसरा विशाल न जाने उस क्षण किस तरह मेरी चेतना में उभर आया था। लेकिन मैं उसके उस स्मृति-प्रसूत रूप को ज्यादा देर पकड़े नहीं रख सका। वह दिल में एक कसक छोड़कर कहीं अवचेतन में फिर लुप्त हो गया था।

नरोत्तम से मेरा परिचय पाकर माँ ने प्रसन्नता प्रकट की और 'चाय बनाकर लाती हूँ' कहकर वहीं रसोई घर में चली गई। माँ चाय लाई, तो मैंने खड़े होकर उनके चरण छुए। उन्होंने स्नेह की अभिव्यक्ति के रूप में तीन बार मेरी ठोडी छूकर अपने हाथ चूमते हुए आशीर्वाद दिया, 'जुग-जुग जियो, बेटा !'

आवाज की उस खनक के साथ माँ के चेहरे पर फिर विशाल झलक उठा। इतना लम्बा समय बीत गया था कि विशाल मेरे लिए केवल एक नाम रह गया था। नौगाँव आने की पहली रात भी उससे सम्बन्धित घटनाएँ और बातें ही याद आई थीं। रूप की स्मृति प्रयास करने पर भी नहीं जगा पायी थीं। और माँ को देखने-सुनने के साथ ही न जाने क्यों उसका रूप चेतना में एकदम दीप्त हो जाता था। इससे पहले कि मैं उसके रूप की हर रेखा को हृदयंगम करूँ, माँ के जाते ही वह रूप धुँधला जाता था। मैं एक अजीब रिक्ति से भर उठता।

दोपहर को खाना खाकर हम आमने-सामने चारपाइयों पर लेटे

हुए बातें कर रहे थे कि माँ ने आकर कहा, 'तुम भी समझाओ न, बेटा, इसे। मैं तो समझा-समझाकर हार गई, यह शादी के लिए तैयार ही नहीं! वजह पूछती हूँ, तो टाल जाता है।'

यह सवाल मेरे मन में भी था, पर नरोत्तम की उलझन के सामने वह नगण्य होकर रह गया था। दोपहर ढलने पर मैं अपने गाँव के लिए रवाना हुआ, तो नरोत्तम मुझे काफी दूर तक पहुँचाने आया। रास्ते में मैंने विवाह की बात उठाई, तो वह बोला, 'भँवर में चक्कर खाते आदमी को किनारे के सपने देखने की सुध कहाँ रहती है!'

उसके कथन का औचित्य समझकर मैं चुप रह गया था।

विदा होते समय मैंने उसे अपने गाँव आने का निमंत्रण दिया, तो वह औपचारिकता निभाता-सा बोला, 'हाँ—हाँ, जरूर!'

लेकिन दूसरे ही दिन उसे अपने गाँव आया देखकर मैं हर्ष और आश्चर्य से भर उठा। उसके चेहरे पर खुशी की चमक थी। मुझे झपटकर बाँहों में भरकर बोला, 'तूने मुझे उबार लिया, दोस्त! मैंने माँ को सब कुछ बता दिया।'

'तो माँ ने क्या कहा?' मैंने उत्सुक होकर पूछा।

'माँ ने कहा, बेटा, क्या तू इसीलिए परेशान रहता था। मुझे तो यह बात बहुत पहले ही मालूम हो गई थी। तुमने कहा कि यदि तुम पत्थर न फेंकते तो विशाल की मौत न होती। इस तरह तो मैं भी सोच सकती हूँ कि अगर मैं उसे स्कूल ही न भेजती, तो यह सब न होता। लेकिन इस तरह सोचना गलत है, बेटा! सच तो यह है कि यही होना था और इसी तरह होना था। —माँ की इस बात से मैं अपने आपको बहुत हल्का महसूस कर रहा हूँ— एकदम हवा में उड़ता हुआ।'

नरोत्तम को इस तरह सुलझा पाकर मुझे भी खुशी हुई। लेकिन उस खुशी में एक सवाल कसक उठा। कहीं इस बदल गई मन:स्थिति में वह माँ को असहाय न छोड़ दे!'

दोपहर को भोजन के बाद मैंने बात चलाई, 'अब शादी के बारे में क्या विचार है ? अब तो भँवर से निकल गये हो।'

वह प्रश्न को अपने कथन से संदर्भित देखकर हँसते हुए बोला, 'सोच रहा हूँ, कर लूँ।'

क्या कोई लड़की देख रखी है ?'

'देखी ही नहीं, परखी हुई भी है।'

'कहाँ ? शहर में ?'

'हाँ, हमारे ही स्कूल में पढ़ाती है।'

'तब तो गाँव से सम्बन्ध टूट जायेगा।'

'अपने गाँव से तो यों भी कोई सम्बन्ध नहीं रहा। रह गई माँ, उसके लिए हर महीने खर्च भेजता रहूँगा।'

शादी के बाद बढ़े हुए खर्च से आदमी के पंख कट जाते हैं।' मैंने कहा, 'चाहते हुए भी वह उड़ नहीं पाता। घर-आँगन का होकर रह जाता है।'

'इसीलिए तो मैं माँ से कहता हूँ, मेरे साथ शहर चल। लेकिन खेत-मकान के बरबाद हो जाने के ख्याल से वह इसके लिए तैयार नहीं। और सच तो यह है कि इसकी वजह सामाजिक है। अपना होते हुए भी मैं ऐसा अपना कहाँ कि माँ मेरे साथ शहर में रहना चाह सके।'

मैंने देखा, नरोत्तम बाँध के ऊपर से बहने लगा है। कभी भी बाँध टूट सकता है। यह देखकर मैंने कहा 'माँ के लिए चिट्ठी-पत्री जरूर देते रहना। नाव टूट जाने पर वह तख्ते के सहारे डूब जाने से बची है। तख्ता पलट गया, तो बुढ़ापे के जर्जर हाथ-पाँवों से ज्यादा देर तक तैर नहीं सकेगी।'

'कैसी बातें करते हो, मुकुन्द !' वह कुछ उखड़ कर बोला, 'तुम सोचते हो, मैं अब माँ को छोड़ दूंगा ! यह क्यों भूल रहे हो कि मेरा भी माँ के अलावा कोई नहीं।'

कहने को हुआ, 'मैं वर्तमान से नहीं, उस भविष्य से सशंकित हूँ, जब तुम्हारे अकेले जीवन को पत्नी मिल जायेगी।' पर अपने संदेह से उसे पहले ही क्षुब्ध पाकर चुप खींच गया।

शाम को तीसरे पहर नरोत्तम को उतराई के रास्ते पर विदा करके मैं वहीं एक चट्टान पर बैठकर बड़ी देर तक उसे कैंचीमार पगडंडी से घाटी की ओर उतरता देखता रहा। मन की बड़ी अजीब हालत थी। नरोत्तम की तरफ से आश्वस्त और माँ की तरफ से आशंकित, बल्कि दुखी। जैसे धूप भी खिली हो और बारिश भी हो रही हो। लेकिन वर्षा जितना भिगो रही थी, धूप उतना सुखा नहीं रही थी। एक सवाल घूम-फिरकर सामने आ जाता था— 'कहीं इस बदली हुई मनःस्थिति में नरोत्तम माँ को बेसहारा न छोड़ दे?' नरोत्तम को दी गई अपनी सलाह भी मुझे कहीं कचोट रही थी। वह उससे सँभल गया, पर क्या इस तरह मैंने माँ के सुख-सपनों की नींव नहीं खोदी? तब यह परिणाम सामने ही कहाँ था! होता भी, तो क्या मुझे नरोत्तम को वैसी सलाह नहीं देनी चाहिए थी? फिर भी न जाने क्यों मेरे सामने विशाल की झलक देता माँ का दर्द-भरा चेहरा घूम-घूम जाता था। मैंने अनुभव किया कि सुख की अनुभूति से करूणा की अनुभूति अधिक गहरी होती है। नरोत्तम की मुक्ति का विचार इस भावना से घिर गया था कि कहीं माँ पर विशाल की मौत दुबारा गुजर गई, तो क्या होगा? इस आशंका से झकझोरा गया-सा मैं अपनी अन्तर्मुखता से जाग गया। उतराई की ओर मैंने नजर दौड़ाई तो मुझे नरोत्तम दूर घाटी में एक काले बिन्दु की तरह एक मोड़ पर ओझल होता हुआ दिखाई दिया। मैंने देखा सूरज पश्चिम पर्वत के पीछे चला गया था और उसकी पीली बूढी धूप पूर्व के पर्वत-शिखरों पर थी-माँदी हाँफ रही थी।

४ / परित्यक्ता

चीड़-वन के एकतान-एकरस सन्नाटे में अचानक खट्-खट् का एक विजातीय स्वर सुनकर लीला चौंक गयी। मुट्ठी-मुट्ठी घास पर तेजी से चलती उसकी दराँती हाथ में ठिठक गयी। एकदम खड़ी होकर उसने आवाज की दिशा में दृष्टि दौड़ाई तो हैरान रह गयी। नाला-पार की सर्पाकार पगडंडी पर लाठी खटकता उसका पति उतर रहा था। वह झट से चीड़-वृक्ष की ओट में हो गयी। पति को अपने मायके के रास्ते पर देखकर वह यिस्मय से भर उठी थी। यहाँ आना तो दूर, इन्हें तो इस ओर देखना भी पसन्द नहीं था! फिर कैसे आ गये? कहीं इस रास्ते डाँडगाँव तो नहीं जा रहे? लेकिन वहाँ क्यों जायेंगे! कौन-सी रिश्तेदारी है इनकी वहाँ! और फिर अब वहाँ पहुँचने का समय ही कहाँ बचा है! दो सीधी चढ़ाइयाँ हैं अभी बीच में! जिस तरह इत्मीनान से लाठी फटकारते, धोती लहराते चल रहे हैं, उससे तो आधे रास्ते में ही इन्हें रात पकड़ लेगी। सूरज पश्चिम की ओर लम्बा हो गया है और उधर के पहाड़ की छाया इधर के पहाड़ की कमर नापने लगी है। नहीं, ये डाँडगाँव नहीं, उसी के गाँव जा रहे हैं– उसी के घर। पर क्यों? कहीं उसे लेने तो नहीं आये! लेकिन यह जिद्दी आदमी इसके लिए तैयार कैसे हो गया?

जब तक पति घाटी की ओर उतरता दिखाई देता रहा, उसकी दृष्टि भी उसके साथ ही उतरती रही। काफी नीचे उतर कर वह वृक्षों की ओट में ओझल हुआ तो एक गहरी साँस छोड़कर, जैसे उसकी चेतना पर से कोई बोझ उतरा हो, उसने फिर से दराँती सँभाल ली। लेकिन अप्रत्याशित पति-दर्शन के उस बिस्मय-भरे बोझ से हल्की होकर भी वह हल्की ही कहाँ रह सकी थी! अब तक के अपने एकाकी बन्ध्या जीवन के भारी बोझ के नीचे

उसका मन नये सिरे से टूटने-लड़खड़ाने लगा था। घास की मुट्ठियों पर उसकी धारदार दराँती कुंठित-सी चल रही थी। मन में सहसा सजग हुई स्मृतियों का ऐसा ताँता लग गया था कि वह अपने उस परित्यक्त जीवन के उत्पीड़न-भरे पन्द्रह वर्ष ही नये सिरे से काटने लगी थी।

सुदीर्घ समय की सघन धुंध में उसके अतीत का वहुत कुछ अस्पष्ट हो गया था। लेकिन वह रात अपनी वक्र भंगिमा के साथ आज भी उसे हूबहू याद है। तब वह अपनी अँधेरी कोठरी के द्वार पर कैसी बेचैनी के साथ उनकी प्रतीक्षा कर रही थी। वे रोज की तरह प्रधानजी की तिबारी में बैठने गये थे। सारा गाँव सन्नटा ताने सो गया था, लेकिन तब भी प्रधानजी की बैठक जाग रही थी। इन्तजार का एक-एक पल उसे भारी पड़ रहा था। लेकिन उसने तय कर लिया था कि आज वह उनका अन्तिम फैसला सुनकर ही रहेगी— इस पार या उस पार। अब व अधिक दुविधा में नहीं रह सकती! नहीं चाहते, तो साफ कह दें कि अब उन्हें उसकी जरूरत नहीं। उसे अधर में क्यों लटका रखा है? तब तो कहते थे—"लीला! तुम बड़ी हो तो बड़ी ही रहोगी। मेरी नजर में कोई फर्क आये तो कहना! अपनी दो आँखों के समान ही समझूंगा दोनों को। ···शादी मैं अपने लिए नहीं, औलाद के लिए कर रहा हूँ।" फिर क्यों नहीं अब दोनों को अपनी दो आँखों के समान समझते! उस आँख पर शहद की सलाई लगाते हैं, कोई बात नहीं। पर, इस आँख पर 'सुरई' का तीखा जलन-भरा दूध क्यों टपकाते हैं? यह क्यों नहीं समझते कि एक आँख की जलन के साथ दूसरी आँख का सुख भी पूरी तरह कहाँ उठाया जाता है। सौत जवान है, तो वह भी तो बूढ़ी नहीं। बस गोरी चमड़ी ही तो सब कुछ नहीं। वह खूबसूरत नही तो औरत तो है। शादी के इन पाँच वर्षों में उसके कुछ नहीं हुआ तो वह बाँझ है—यह वह कैसे मान बैठे! औलाद न होने में क्या औरत का ही दोष होता है? क्या खेत ही खराब होता है, बीज खराब नहीं होता? मान भी लें कि वह

कभी माँ नहीं बन सकती, तो क्या इससे उसका औरत होना भी छूट जाता है ? फिर उससे यह दुराव क्यों ? महीनों हो गये, क्यों नहीं उस के पास आते ? कौन-सा अपराध किया उसने कि अब बोलना-चालना भी बन्द कर दिया।

पर पति के आने की आहट सुनकर वह बुरी तरह घबरा गयी थी। सारा सोचा हुआ गड्मड् हो गया था। वह समझ नहीं पा रही थी कि क्षण भर बाद जब वे उसके सामने होंगे तो वह क्या कहकर उन्हें रोकेगी ? रोक भी लेगी तो अपनी बात कहाँ से शुरू करेगी ? कहीं उन्होंने रोकते ही दुत्कार दिया तो क्या होगा ? कितना अच्छा हो कि उसे पहचान कर भी न पहचानते-से वे ही पहले पूछ लें—'कौन ?', तो बोलचाल के नाम पर उनका यह पूछ लेना भी वर्षा की फुहार-सा उसे लहलहा देगा। तब वह प्यार उँडेलती कहेगी— मैं हूँ लीला। और फिर शायद पहले जैसी बातों का सिलसिला शुरू हो जाये !

पर ऐसा कुछ नहीं हुआ। आधी रात के समय उसे दरवाजे पर खड़ी देखकर भी वे बिना कुछ पूछे अपने कमरे की तरफ मुड़ चले थे। तब उस प्रत्यक्ष उपेक्षा की मार से अपने आर्त्तनाद को किसी तरह अपने कंठ में ही रोककर वह भर्राए स्वर में बोली थी—"सु-नि-ए !"

पति के अप्रत्याशित रुक जाने के उस एक क्षण में वह आशा-निराशा के प्रचंड आलोड़न में असंख्य बार डूब-उतरा गयी थी। लेकिन दूसरे ही क्षण पति का "क्या है ?" का कठोर स्वर सुनकर उसे लगा था जैसे डूबकर उतराते हुए अचानक उसका सिर किसी बहती हुई हिम-शिला से टकरा गया हो। वह भँवर में चक्कर खाती-सी हतप्रभ रह गयी थी। वह सँभल भी न पायी थी कि वे 'उँह !' में अपना तिरस्कार प्रकट कर दनदनाते चले गये थे। मन भर आटे के बोझ के नीचे, पनचक्की से गाँव तक की विकट चढ़ाई चढ़ते हुए पाँव जैसे थरथराते थे, उससे भी कहीं अधिक तब उसके पाँव दरवाजे से भीतर चारपाई तक जाने में काँपे थे।

पेड़ से काट दी गयी डाली-सी हवा में चक्कर खाती वह चारपाई पर गिर पड़ी थी। और फिर सारी रात वह मन की आँधी में दिग्भ्रान्त-सी भटकती रही थी।

गाँव के जलस्रोत पर किसी पनिहारिन की गागर में पानी जाने की घम्-घम् की आवाज और 'करैं' पक्षी की क्रें-क्रें के तीखे स्वर से सुबह हुई जानकर वह कलेवा का इन्तजार किये बिना ही 'कूटी' (एक प्रकार की कुदाली) लेकर खेत में 'कोदा' निराने चली गयी थी।

भादों की कैसी ठंडी सुबह थी वह ! ओस के कण कोदे' की हरी-हरी पत्तियों पर बर्फ की सफेदी लिए जमे थे। गीली जमीन पर उस के खुले पाँव सुन्न हुए जा रहे थे ! खेत में बिखरे नुकीले कंकड़ों की चुभन भी उस ठंड में कैसी तीखी लगी थी ! धूप निकलने पर ही कुछ जान में जान आयी थी। पर फिर भादों के खुले-धुले आसमान की चटकदार तीखी धूप में दोपहर तक काम में लगी वह बुरी तरह तिलमिला गयी थी। प्यास से उसका बुरा हाल था। और उस डाँडे में दूर-दूर तक पानी का कहीं नामो-निशान नहीं था।

लौटते हुए गाँव की पनधार से खाली पेट पानी पिया था, तो कैसी असह मरोड़ उठ गयी थी उसके पेट में ! घर पहुँची तो दोनों (पति और सौत) अकेले में रसोई-घर में बैठे चहक रहे थे। पर उसे 'चौक' (आँगन) में आयी देखकर ऐसे चुप हो गये थे जैसे पेड़ की शाखा पर चहकते 'घुगतियों' के जोड़े ने नीचे वन-बिल्ली आयी देखी हो। उनके चेहरों पर छायी मुस्कान को उसकी उपस्थिति का साँप सूंघ गया था। उन की उस चेष्टा ने उसे साफ समझा दिया था कि वे उसे अपनी जीवन-लता के नीचे भड़की हुई आग समझते हैं। तब भीतर से घुमड़कर आती अपने आक्रोश की आँधी को वह बड़ी कठिनाई से अपने फड़कते होंठों में बाँधकर रख सकी थी। भूख और पेट की मरोड़ पता नहीं कहाँ बिला गयी थी।

वह अपनी कोठरी की ओर बढ़ी ही थी कि रसोईघर से सौत

की आवाज आयी—"पहले खाना खा लो दीदी !"

कैसा मजबूरी का सम्बोधन था वह 'दीदी !' उस पर "पहले खाना खालो" ऐसे स्वर में कहा गया था, जैसे कह रही हो—"बाद में जो जी में आये, करती रहना, हमारे गुंठे से।" तब भी वह सहज ही रहकर बोली थी—"मुझे भूख नहीं है।"

इस पर उसने पति को बोलते सुना, "खुशामद क्यों करती है, कमला ! कोई नहीं खाता, न खाये; तू क्यों भूखी मरे ?"

पति की अनुकूलता की जो एक बीमार आशा उसमें उखड़ी-उखड़ी साँसें ले रही थी, यह सुनकर वह भी समाप्त हो गयी थी। अब उसे पूरा यकीन हो गया था कि वह इस घर में कूड़े की तरह है। बस झाड़ू मारने की देर है। तो क्यों न वह इस बेइज्जती के पहले खुद ही यहाँ से निकल जाये ! और वह झटपट कोठरी से अपने इने-गिने कपड़ों की पोटली बगल में दबाए चौक में उतर आयी थी।

पति वहाँ छज्जे की छाया में बैठा, चिलम में फूंक मारता हुआ अंगारे भर रहा था। यों उसका इरादा चुपचाप चले जाने का था, पर पति को वहाँ पाकर बतौर सूचना के ही उसने कहा था—"मैं मायके जा रही हूँ।"

तब मन में यह सँभावना भी जागी थी कि शायद खेती-बाड़ी के चौपट हो जाने की आशंका और जग-हँसाई सोचकर पति उसे रोकना चाहे। पर इसके विपरीत पति बोला था—"कुछ दिनों के लिए, या हमेशा के लिए ?"

पति के वे शब्द उसे ऐसे लगे थे जैसे अँगारे चिलम में नहीं, उस के दिल में डाल दिये गये हों। वह तिलमिला कर बोली थी—"हमेशा के लिए।"

इस पर हुक्का गुड़गुड़ाता पति बड़े इतमीनान से बोला—" तो

इस आशा में मत रहना कि मैं तुम्हें लेने जाऊँगा ।"

तब वह भड़क उठी थी—"तुम भी इस आशा में मत रहना कि औरत जात हूँ तो हार-झकमार कर खुद तुम्हारे सामने नाक रगड़ने चली आऊँगी।"

कमला भी जैसे झगड़े का मजा लेने बाहर आ गयी थी। पति चिलम की तवी-सा लाल होकर बोला था—"तो जा, मर ! मुझे सौगन्ध है जो तुझे लेने आऊँ।"

"तो मुझे भी सौगन्ध है जो इस देहली पर कभी पाँव रखूँ।"

वह खड़ी रहती, तो जरूर पति चिमटा फेंक मारता। कितना विकराल रूप था पति का उस समय ! पर वह तेजी से चौक की सीढ़ियाँ उतरकर नीचे रास्ते पर हो ली थी। पास-पड़ोस के लोग घरों से निकल आये थे। और अब उसे अपने-अपने चौक की मुँडेर पर खड़े होकर जाते देख रहे थे। कमला भी चौक के छोर पर चुप खड़ी थी। लोक-लाज से ही सही, उसने एक बार भी तो नहीं कहा 'कि दीदी ! कहाँ जाती हो ? लौट आओ।' लौटना तो उसने तब भी नहीं था, पर एक बात तो रह जाती।

मायके में इस बीच माँ-बाप भी चल बसे थे। अच्छा ही हुआ। वरना बेटी के दुख को अपने सीने पर लेकर जीते जी मर जाते। सन्तान के दुख को पता नहीं क्यों माँ-बाप गहराई से महसूसते हैं, जैसे उनके खुद का अपना दुख हो। उसकी विवशता की कहानी सुनते हुए प्रसादू को भी कम दुख नहीं हुआ था। लीला के आँसुओं से उसकी आँखें भी नम हो गयी थीं ! पर जवान होकर भी उसने तैश नहीं खाया, बल्कि उसका दुख सुनकर उसे समझाया ही था—"दीदी ! परित्यक्ता स्त्री का जीवन विधवा से भी ज्यादा कठिन होता है। विधवा के सामने पति की वापसी का कोई आशा नहीं रहती। इसलिए वह निराशा से समझौता कर लेती है। लेकिन परित्यक्ता स्त्री आशा नहीं छोड़ पाती और हर घड़ी, हर पल आशा की

टूटन झेलती है।''' कोई सुलह की सूरत तो निकालनी ही पड़ेगी, दीदी ! वरना जीवन दूभर हो जायेगा।''

कितनी समझदारी की बात कही थी प्रसादू ने ! जरूर संस्कृत की पोथियों में पढ़ी होगी कहीं। वरना उसकी अब तक की टूटन को वह तभी कैसे समझ गया था। सचमुच इन पन्द्रह वर्षों में अपनी निपूती जवानी का बोझ लिए वह हर घड़ी टूटी है ! कितनी घुटी ! कितनी मिटी ! सैकड़ों बार अपनी कसम तोड़ कर पति के पास चले जाने की जबर्दस्त इच्छा उसमें जागी और उतनी ही बार उसने उसे कुचल देने की भारी यातना झेली। कितना झगड़ती रही वह पति से भीतर-ही-भीतर। एक बार तो आवेश में आकर वह पति का चेहरा नोच डालने की इच्छा से अपना ही चेहरा लहूलुहान कर बैठी थी !

लेकिन उस दिन उसने कहा था—''उनके बिना जीवन दूभर होगा, प्रसादू ! तो उनके साथ कौन-सा आसान रहा। क्या दिया उनके साथ ने, जो वह दूरी छीन लेगी। आगे की भी कौन-सी आशा रह गयी थी जो वहाँ रह जाती !''

फिर भी प्रसादू ने 'सुलह की सूरत' निकाली थी। अपने विवाह में उसने उन्हें बुलावा भेजा था। विश्वास तो उसे भी नहीं था, पर उसे आशा थी कि शायद आ जायें। वह खुद भी बारात जाने के समय तक इसी उम्मीद पर मन बाँधे रही कि शायद अब तक किसी काम से रुके रह गये हों और अब अचानक आ जायें। पर जब बारात भी चली गयी और वे न आये तो जाती बारात को देखने के लिए इकट्ठा हुए लोगों के अपने-अपने घर चले जाने पर वह अपने सूने कमरे में किस तरह फूट-फूट कर रोयी थी ! भुरभुरी मिट्टी से बनायी मन की कच्ची मेड़ एक झटके से टूट गयी थी और जैसे खेत में भरा सारा पानी ही उमड़कर बह उठा था। उस ने सोचा था—वे आ गये, तो बिगड़ी बात भी बन जायेगी। लेकिन अब

वह पक्की तरह समझ गयी थी कि बात कभी न सुधरने के लिए ही बिगड़ी है।

और फिर जीवन-व्यापी निराशा की निरर्थक यात्रा पर साल-दर-साल घिसटती हुई वह उम्र के उस मुकाम पर पहुँच गयी थी जहाँ तन की भूख से अधिक मन की प्यास तड़पाती है और जिन्दगी सीधे खड़े पहाड़ों की दुर्गम चढ़ाई होती है। एसी चढ़ाई, जिसमें कदम-कदम पर दम फूलता है, पर न जहाँ कोई छायादार वृक्ष होता है और न कहीं पानी का सोता।

फिर, यही कोई दो महीने पहले की ही तो बात है, प्रसादू ने अपनी जजमानी से लौटकर बताया था कि कमला गुजर गयी। और चार नादान बच्चों के साथ बाहर-भीतर के कामों में उसके पति की मट्टी पलीत हो रही हे। यह सुनते ही उसका मन हुआ था कि जाये और उस की बिखरती गृहस्थी सँजो ले। पर, कहीं वे यह न सोच बैठें कि उसे कमला की मौत का ही इन्तजार था और अब उसके मरघट में अपने सुहाग का महल खड़ा करने आ गयी; उसने अपनी इच्छा मार दी थी। और कसम ? हाँ, उस दिन ही उसने पहली बार उसका थोथापन महसूस किया था !

यही वजह थी कि कमला की मौत के कुछ ही दिनों बाद जब उसने एक दूसरी दुर्घटना सुनी तो वह पति की सेवा में जाने के लिए अधीर हो गयी थी। पेड़ पर चढ़कर सूखी लकड़ियों को पाँव से हिला-हिलाकर तोड़ते हुए अचानक उसका पति खड़ा-खड़ा नीचे गिरा था और नीचे बेहोशी में पड़ा रह गया था। गाँववालों को पता चला तो चारपाई पर डालकर घर लाये थे।

शाम को खबर सुनने के बाद से ही वह गुमसुम बेचैन थी। रात को जब उससे रोटी का एक ग्रास भी न चला तो कुन्ती बहू उसकी परेशानी समझकर बोली थी—"बेकार क्यों दुखी होती हो, जड़ज्यू !

जिसने इतने बरसों तक तुम्हारी सुध न ली, तुम्हें दूध की मक्खी की तरह निकाल फेंका, यह भी न देखा कि मक्खी मर गयी या जिन्दा है, अपने गिलास का ही दूध देखते रहे कि कहीं छलक न जाये, उनकी कुशलता ने तुम्हें क्या सुख दिया जो उनकी अकुशलता का दुख मनाओ ।"

तब वह विह्वल हो गयी थी–"ऐसा नहीं कहते, बुआरी ! उनकी कुशलता मेरा सुहाग है ।"

"क्या दिया तुम्हें तुम्हारे इस सुहाग ने ?" कुन्ती बहू आवेश में थी, "माँग का सिन्दूर, नाक की नथ और हाथ की चूड़ियाँ, यही न ! क्या इसे ही सुहाग कहते हैं ? यही अगर सुहाग है तब तो हर विधवा स्त्री इन्हें पहने रहकर सुहागिन बनी रह सकती है !"

"कुन्ती !" प्रसादू ने झिड़का था— "बोलने के पहले सोच लिया कर कि बात कहाँ जाकर लगेगी ।"

लेकिन क्या कुन्ती बहू ने कड़वा बोल कर भी सच नहीं कहा था ? क्या वह विधवा से इसी अर्थ में अलग नहीं कि उसने सुहाग के ये चिह्न पहन रखे हैं । पति के जीवित होने की सूचना-मात्र देने वाले इन चिह्नों से क्या उसका खालीपन भर पाया ? विधवा का पति मर कर दूर होता है और उसका पति जीते-जी दूर है । घटती नहीं तो छोटी हो, या बड़ी, दूरी दूरी ही तो होती है ।

और एकाएक वह बोली थी—"प्रसादू ! मैं वहाँ जाना चाहती हूँ ।"

यह सुनते ही दोनों चौंक पड़े थे । उन्हें विश्वास नहीं हो रहा था कि अब तक अपनी टेक पर डटी रहने वाली लीला ही यह बोल रही है । तब उन्हें अचरज में देखकर उसने कहा था—"हाँ, प्रसादू ! इस समय वे मुसीबत में हैं । लाचार चारपाई पर पड़े होंगे । बच्चों की अलग दुर्दशा । गौशाला में गाय-गोरू भी भूखे-प्यासे ठठरी बने खड़े होंगे । क्या न जाऊँ ?"

"जरूर जाओ, दीदी !" प्रसादू खुश था—"तुम्हारा घर बसने से बढ़कर सुख हमारे लिए कुछ नहीं। क्यों कुन्ती ?"

और कुन्ती ने भी हामी भरी थी।

पर, कहाँ बस पाया उसका घर। महीने भर बाद ही उसे वहाँ से लौट आना पड़ा। जिस दिन पहुँची, वे टाँग की चोट से चारपाई पर पड़े थे। घर का बुरा हाल था। चारों ओर कूड़ा-करकट और मक्खियों की भिनभिनाहट। ब्राह्मण का-सा घर नहीं लग रहा था। बच्चे गंदे कपड़ों में गँधा रहे थे। साफ-सफाई-पसन्द उनके कपड़े भी हल्दी-तेल से दगीले और चीकट !···यों तो घर-बाहर का मोटा-सोटा काम चचिया सास देख जाती थी, पर वह देखना बस यों ही कामचलाऊ था। लीला ने वहाँ पहुँचते ही घर बाहर ऐसा सँभाला कि 'पँडाल' (पानी की धार को ऊपर से नीचे की ओर तेज वहाव देने वाली लकड़ी की वड़ी नाली) में अटका पत्थर निकल गया था और गृहस्थी की पनचक्की घरड़-घरड़ चलने लगी थी। लेकिन उन्होंने एक बार भी इसके लिए कोई खुशी नहीं दिखायी। पहले दिन जो अलगाव का भाव उनके चेहरे पर मिला था, वह आखिर तक ज्यों का त्यों बना रहा। हमेशा यही महसूस कराते रहे, जैसे वे उसे अपनी पत्नी नहीं सेवा-टहल के लिए आयी कोई बाहर की औरत समझ रहे हों। वह उन्हें पूछती—"अब तबियत कैसी है ?" तो वे "ठीक है" इतना आहिस्ते से बोलते जैसे उन पर बड़ा वजन पड़ रहा हो। वह उन्हें अँगोछती, गँदे कपड़े उतार कर साफ पहनाती, पैर पर बाँस की खपच्चियों पर बँधी गन्दी पट्टी बदलती, पर न तो उन्होंने कभी इनकार किया कि नहीं-नहीं, इसकी जरूरत नहीं और न कभी अपनी खुशी दिखायी कि लीला ! अच्छा किया तुम आ गयीं।···उसके आने के दिन बच्चे उसे आने नहीं दे रहे थे। वे उससे लिपटे हुए रो रहे थे। लेकिन वे तब भी मटक-मौन बने रहे। जब वे नहीं चाहते थे तो वह जबर्दस्ती क्यों रुकती वहाँ ? इतना भी कह देते कि "लीला, अब जब आ ही गयी हो तो रह

ही जाओ", तो भी वह रुक जाती। पर उन्होंने उसकी जरूरत ही कहाँ समझी थी? फिर अब कैसे आ गये? गृहस्थी नहीं सँभल रही होगी!

जंगल से घर पहुँचते-पहुँचते रात हो गई थी। घर के बाहर एक ओर चौक में डाल दी गया 'बिठकी' में घास की उखड़ी जड़ें जुगनू की-सी शुभ्र-आभा में चमक रही थीं। यह देखकर उसे लगा जैसे वह बिठकी उस के अवसाद-भरे जीवन का गट्ठर हो, जिसमें आज उसकी आशा-आकांक्षाओं की उखड़ी जड़ें ही इस अँधेरे में चमक उठी हैं। रसोईघर से निकलती सोंधी गंध और कड़ाही में चलती करछी की आवाज से उसे समझते देर नहीं लगी कि आज हलवा खुशी में बन रहा है। तिबारी में प्रसादू के साथ बतियाते पति का स्वर कानों में पड़ा तो वह पुलक से भर उठी। समय ने आज जो नशीली अँगड़ाई उसके कुंठित जीवन में ली थी, वह उसके हलके गुलाबी नशे में डूबने लगी। उस डूबन में घुटन नहीं, खुली साँस थी—अधूरे जीवन से मुक्ति की साँस। वह बरसात की हिउल नदी हो गयी थी, वैसी ही शक्ति और स्फूर्ति से भरी वैसी ही अवरोधों में गतिमान।

और दिनों वह काम से लौटती थी, तो रसोईघर में कुन्ती बहू के पास, या बाहर चौक में दीवार के सहारे चुपचाप बैठ जाती थी, जैसे ऊँचाई से गिरता हुआ झरना नीचे अपने ही निर्मित कुंड में कुछ देर विक्षुब्ध-सा घूमता रहता है। लेकिन उस दिन हाथ-पाँव धोकर रसोईघर में घुसते ही वह कुन्ती बहू से बोली—"आटा भुन गया है, बुआरी! बाहर तक महक आ रही थी। कहीं जल न जाये।"

यों तो उसके उत्साहपूर्ण स्वर से ही कुन्ती बहू समझ गयी थी कि उसे अपने उनके आने की खबर हो गयी है, फिर भी वह कड़ाही में गुड़-औटाया गरम पानी डालते हुए बोली—"तुम्हारे वो आये हैं, जड़ज्यू! तुम्हें ले जाने।"

"वो आये हैं"—यह तो लीला जानती पर उसे ले जाने ही आये

—यह पक्का नहीं था। कुन्ती बहू की सूचना उसे ऐसी लगी, जैसे उपेक्षा को आँच पर चढ़ी उसकी जिन्दगी की कड़ाही में स्नेहयुक्त भावनाओं के अब तक भुने जाते आटे में मीठा शरबत पड़ गया हो। उसका अन्तर महक और मिठास से भर उठा था। कहीं कुन्ती बहू उनके आने का उद्देश्य अपनी तरफ से न सोच रही हो, यह सोचकर उसने पूछा—"किसने कहा कि ले जाने आये हैं ?"

"तुम्हें ले जाने की बात और दूसरा कौन कह सकता है ?" हलवा घोंटते हुए कुन्ती बहू बोली—"तुम्हारे भैया के साथ वे तिबारी में हुक्का पी रहे थे। मैंने 'सिवा' (चरण स्पर्श) लगाकर पूछा—'आज रास्ता कैसे भूल गये, भैजी !' वे बोले—'तुम्हारी जड़ज्यू को ले जाने आया हूँ।' 'जड़ज्यू गयी तो थीं', मैंने कहा 'तब क्यों नहीं रोक लिया ?' 'बहुत गहरी बात है, भुल्ली ! तुम नहीं समझोगी।' पता नहीं ये मर्द अपने आप को क्या समझते हैं ? समझदारी का सारा ठेका जैसे इन्होंने ही ले रखा है !"

गहरी बात ? आखिर क्या गहरी बात हो सकती है ? लीला सोच रही थी। लेकिन उसकी कुछ समझ में नहीं आ रहा था।

चूल्हे पर तवा रखते हुए कुन्ती बहू बोली—"यहाँ इस धुएँ में उन्हें कहाँ बुलाएँ, जड़ज्यू ! ऐसा करो, तिबारी में ही खाना खिला दो।"

"नहीं बुआरी !" लीला मिन्नत-सी करती बोली—"खाना तू खिला। रोटी मैं बनाती हूँ।" कहीं कुन्ती बहू उसकी शर्म को ताड़ न ले, यह सोचकर उसने झट बहाना बनाया—"मैं थकी हूँ। सीढ़ियों पर बार-बार का चढ़ना-उतरना मुझसे नहीं चलेगा।"

अपनी जगह छोड़ती हुई कुन्ती बहू ने परिहास किया—"आज तो पहाड़ भी लाँघ सकती हो, सीढ़ियों की भली चलाई !"

लीला मुसकराई। लेकिन उसकी मुसकान में ढलती उम्र के अहसास की कसक भी थी।

रात को खा-पीकर जब सब तिवारी में बैठे थे, प्रसादू ने बात चलाई— "परसों का दिन ठीक रहेगा न, दीदी ?"

जानते हुए भी लीला ने पूछा— "किसलिए ?"

"अरे, तुम्हें इसने नहीं बताया !" कुन्ती बहू की ओर इशारा करके प्रसादू ने आश्चर्य प्रकट किया—"ऐसी खुशी की बात यह कैसे पचा गयी !" फिर हँसते हुए बोला—"जीजाजी तुम्हें लेने आये हैं, दीदी !"

"दिन-वार मुझसे क्या पूछते हो ! तुम तो खुद पंडित हो।" यह कहकर लीला ने एक ललक-भरी छिपी निगाह अपने पति पर डाली। लेकिन उसके चेहरे पर पत्नी के साथ ले जाने की कोई हर्ष-सूचना नहीं थी। लीला को लगा जैसे उसके खिले फूलों की माला पत्थर की मूर्ति पर चढ़ी हो। उसकी वह उमगती दृष्टि पति की चट्टानी कठोरता से टकरा कर विक्षोभ से भर उठी और वह अनायास ही पूछ बैठी—"मैं गयी तो थी, तब क्यों नहीं रोक लिया ?"

और इस प्रश्न के उत्तर में उसके पति चन्द्रमणि ने जो सफाई दी, उससे लीला बुरी तरह मर्माहत हो गयी थी। जिस बात को उसने 'गहरी' कहा था, वह इतनी उथली, इतनी ओछी निकली कि लीला मन-ही-मन छी-छी कर उठी। पति की जिस मूर्ति को वह, नाराज होकर भी, मन-ही-मन पूजती रही थी, वह एक धमाके के साथ चूर-चूर हो गयी थी। उस धूल के ढेर में मूर्ति की कोई पहचान भी शेष नहीं रह गयी थी। और वह एक हाहाकार-भरी रिक्तता से भर उठी थी।

उसके पति ने उसके प्रश्न के जवाब में प्रसादू की ओर उन्मुख होकर कहा था—"रामप्रसाद जी ! मैं इस सवाल से बचना चाहता था। एक बार बच भी गया, पर अब लगता है कि सफाई देनी ही होगी। बात यह है कि···कि तुम्हारी दीदी ने मेरा घर छोड़ते हुए कसम खायी थी कि अब वह कभी वहाँ कदम नहीं रखेगी। इस पर मैंने भी तैश में आकर कसम ले ली थी कि मैं भी उसे लेने नहीं आऊँगा। फिर भी तुम्हारी दीदी

आयी और मैं सच कहता हूँ कि मैं इसे मुँह दिखाने लायक नहीं रहा। उस हालत में मैं इसे क्या कहकर रुकने के लिए कहता। कह भी देता तो इसके रह जाने पर क्या मैं हमेशा के लिए इसके एहसान से दबा नहीं रह जाता! इसीलिए मैंने सोचा कि पलड़े अब तभी बराबर होंगे जब मैं भी अपनी कसम तोड़कर उसे लेने जाऊँ।"

यह सुनकर लीला को बड़ा बुरा लगा। तो ये उसकी सेवा-टहल का अपने पर उसका ऐहसान समझ रहे हैं? और अब बदले में ऐहसान डालने आये हैं! अपनी औरत समझते तो क्या इस तरह की लेन-देन की बात करते! महीने भर इनके साथ रही, पर ये ऐसे दूर रहे जैसे वह औरत ही न हो। मर्द में औरत के लिए जो एक खिचाव होता है, वह इनमें उसके लिए होता तो क्या उसे लौटने देते! यह कसम तोड़कर ऐहसान लादने की बात क्या तब धरी न रह जाती! क्या प्यार की आग में चीड़ की लीसा-लिपटी खपची-सी इनकी सौगन्ध दपदप जलकर तभी राख न हो गयी होती! झगड़े में तो इससे भी बड़ी-बड़ी कसमें खा ली जाती हैं पर मर्द-औरत के चक्की के दो पाटों के बीच क्या उनका चूरा नहीं बन जाता! सच क्यों नहीं कहते कि ये उसे चाहते नहीं, पर मजबूरी है! इस उम्र में अब फिर कहाँ शादी करें! बच्चों का बुरा हो जायेगा और उस पर जगहँसाई!...हिसाब-किताब सोचकर उसे लेने आये हैं कि काम-काज भी सब देख लेगी और ऐहसानमंद होकर जैसा ये चाहेंगे वैसा यह नाच भी लेगी। कभी-कभार के लिए ज्यादा बुरी भी नहीं। वह कितना तड़पी है इनके लिए, पर इसकी कोई बात ही नहीं। कसम और ऐहसान लिए बैठे हैं! हमदर्दी का एक भी बोल नहीं! वरना वह उसी को इनका प्यार समझ लेती। पर, वाह रे मर्द के घमंड! नहीं, अब वह इस घमंड की शिकार नहीं होगी। और वह दृढ़ स्वर में बोली-"इनसे कह दो, प्रसादू कि मैं अपने भाई-बहू पर भारी नहीं पड़ रही। आज तक जैसे कट गयी, आगे भी काट लूँगी।"

चन्द्रमणि हुक्के का कश खींचकर धुआँ छोड़ता हुआ बोला—"कोई जबर्दस्ती नहीं। नहीं आना चाहती, तो अब मेरा कोई दोष नहीं।"

"मर्द को दोष लगते ही कहाँ हैं !" लीला ने ताना दिया, 'दोष तो सारे औरत को लगते हैं, जिसके सामने मर्द की तरह दस रास्ते नहीं और जो अपनी एक ही लीक पीटते चलने के लिए लाचार रहती है।

दूसरे दिन सुबह-सुबह चन्द्रमणि पल्ला झाड़कर चला गया। और फिर हफ्ता भी न हुआ था कि उसने तीसरी राह पकड़ ली। वह टकों का ब्याह कर लाया। यानी रुपयों से एक जवान, खूबसूरत लड़की खरीद लाया। लीला ने सुना तो बोली, "यह तो होना ही था। अचरज तो तब था, जब यह न होता।"

●

५ / नागपाश से मुक्ति

आज वह लगभग डेढ़ साल बाद कन्धे पर सन्दूक और पीठ पर पिट्ठू बाँधे गाँव के रास्ते पर चढ़ाई चढ़ रहा था।

चारों तरफ बिखरे पहाड़ी शिलाखंडों पर दोपहर तप रही थी। लेकिन चीड़ देवदार के जंगलों से आती हवा के ठंडे झोंके पसीने से तर–बतर उसके शरीर में एक मादक फुरहरी जगा जाते। एक नयी स्फूर्ति से भरकर वह तेजी से चढ़ाई चढ़ने लगता।

सन्दूक का चुभन-भरा बोझ और पीठ पर पिट्ठू की गर्मी से उत्पन्न चुनचुनाहट उसे महसूस ही कहाँ हो रही थी! महसूस करने वाला मन उसके साथ था ही कहाँ! वह तो स्मृतियों की पालकी में बैठा था; ढोल-दमाऊ और शहनाई बजती सुन रहा था; आगे-आगे हिचकोले खाती लाल परदे से ढकी अपनी दुलहन की डोली देख रहा था; डोली के अन्दर गठरी बनी बैठी नवबधू की अश्रु-सिक्त पलकें पोंछ रहा था और सद्यः बिंधी गौरी सुतवाँ नाक पर झूलती भारी नथ की दुखन झेल रहा था। वह उसके तिल-शोभित चिबुक को उँगलियों में लेकर आहिस्ता से ऊपर उठा रहा था और अपनी नवोढ़ा की अश्रुधुली मदभरी प्यारी-प्यारी आँखों में खोया हुआ था।

उसने देखा, वह रास्ते पर रुका खड़ा है। स्मृतियों के उस छलावे पर उसे हँसी आ गयी— वह भी क्या है, यादों में खोकर चलना भी भूल गया!

वह तेजी से चल पड़ा। दुर्गम पहाड़ों और घने जंगलों के भया–वह अन्धकार ने कहीं रास्ते में ही पकड़ लिया, तो इन ऊबड़-खावड़, सँकरी

और गहरी खाइयों वाली पगडंडियों पर चलना खतरनाक हो जायेगा। नहीं-नहीं, उसे शाम तक अवश्य घर पहुँचना है। शाम को वह घर के चौक में बैठा रहेगा। जंगल से घास का गट्ठर लिए कौसल्या आयेगी और लम्बे दो वर्षों के बाद उसे अचानक आया देख कर विस्मय से चौंक उठेगी, हर्ष से लहरा उठेगी और सौ-सौ स्वप्न उसके चेहरे पर पश्चिम आकाश की भाँति नाना वर्णों में दीप्त हो उठेंगे। गट्ठर को चौक में एक ओर फेंक कर वह एकदम भागती हुई रसोईघर में घुस जायेगी। तब उसकी वह प्रसन्नता, वह व्यग्रता, वह ससंभ्रम उसे कैसा तो आनन्द दे जायेंगे! रात होने पर घर पहुँचा, तो इस मधुर-मदिर-स्वप्निल अनुभव से वह वंचित ही रह जायेगा।

वह बाँज-वृक्षों के झुरमुट से झरते जल-स्रोत के निकट पहुँच गया था। सुस्ताने के लिए सन्दूक उतार कर उस पर बैठ गया। पिट्ठू खोलकर उसने घर के लिए खरीदी मिठाई में से बरफी का एक टुकड़ा मुँह में डाला। प्यास से खुश्क मुँह में बरफी चिपकने लगी, तो जल-स्रोत के पास जाकर उसे पानी से निगला। फिर छककर पानी पिया। मुँह भी धोया और रूमाल से खूब रगड़-रगड़ कर गरदन पोंछी। फिर वापस सन्दूक पर बैठकर उसने इतमीनान से सिगरेट पी। अपनी अब तक की तेज रफ्तार से उसने इतना समय बचा लिया था कि शाम तक आगे की दूरी आराम से तय कर सकता था।

पहाड़ की चोटी पर पहुँच कर उसने गाँव की दिशा में दृष्टि डाली। सामने के तिरछे-खड़े पहाड़ के अन्तिम छोर पर उसे अपने गाँव के लाल मिट्टी-पुते कुछ घर हरे-भरे वृक्षों की ओट में दुबके दिखाई दिये। गाँव की निकटता की थिरकन लिए वह उतराई के रास्ते पर सपाटे से उतर चला। कुछ अपनी आनन्द-स्फूर्ति से और कुछ उतराई के अपने वेग के कारण वह ढलान का उच्चावच मार्ग फलाँगता चला जा रहा था। कान के पास सन्दूक खड़-खड़ बज रहा था। लेकिन उसकी द्रुत चाल के साथ ताल-मेल से बजती वह कर्कश ध्वनि भी उसे संगीत का आनन्द दे रही थी।

अपनी तीव्र गति के अहसास से उमग कर उसे लगा, जैसे उसका गाँव बस तीन कदम पर है। यह उतराई, वह नदी-पार की छोटी-सी चढ़ाई और फिर खेत-खेत सीधा रास्ता। टाइम जरा चढ़ाई पर लगेगा। वरना यह उतराई और वह सीधा रास्ता तो बस यूँ चुटकी का है। वह सचमुच चुटकी बजा बैठा। इस पर वह खिलखिलाकर हँस पड़ा। कहीं कोई देख न रहा हो ! समझेगा, पागल है ; अपने आप हँस रहा है। उसने गम्भीर होकर चारों तरफ निगाह घुमाई। एकदम निर्जन ! चोटी पर चीड़ वन में हवा की अविराम सरसराहट का सन्नाटा ! 'उँह, अकेले रोना पागलपन नहीं, तो हँसना पागलपन क्यों ?' और उसने यों ही जोर का ठहाका मारा। उसने सुना, घाटी भी प्रतिध्वनि में ठहाका मार रही है। गूंज सुनने के लिए उसने फिर अट्टहास किया। घाटी भी हँसी— हा-हा-हा-हा ! वह मुक्तकंठ से पुकार बैठा— 'कौसल्या !' घाटी के सन्नाटे की तह-पर-तह चीरती प्रतिध्वनि लहराई— 'सल्या !'

'मैं आ रहा हूँ।' वह चिल्लाया। गूँज ने अंधी नकल की— अ-आ-ऊँ।'

*

फुर्ती से उतराई फलाँगते हुए उसे वह दिन याद आया जब वह दो वर्ष पूर्व गाँव के सुरजू भैजी के साथ अहमदाबाद जा रहा था। उस दिन यह उतराई प्रवास के रास्ते पर कसी विकट चढ़ाई लगी थी। कौसल्या से दूर चले जाने के बोझ के नीचे उससे चला नहीं जा रहा था। उसकी मधुर-कातर स्मृति उसके पाँवों से लिपट-लिपट कर उसकी गति प्रस्खलित कर रही थी। फुर्ती से चढ़ाई चढ़ते सुरजू भैजी ने उसे काफी नीचे छूटा देखकर आवाज लगाई थी— "क्या बात है, दलपत ! औरत ने घुटने ढीले कर दिये क्या ?" यह कह कर उसने ठहाका लगाया था और घाटी ने भी प्रतिध्वनि में उसकी खिल्ली उड़ाई थी। सचमुच कौसल्या से अपनी लम्बी जुदाई सोचकर वह बेजान-सा हो गया था—बुझा-बुझा, स्फूर्तिहीन !

अहमदाबाद जाकर वह सुरजू भैजी की मिल में ही मजदूर लग गया था। एक छोटे से किराये के कमरे में दोनों रहते थे। साथ में किसी तरह उसका मन लग जाता था। पर जब सुरजू भैजी अच्छी नौकरी पर कलोल की मिल में चले गये तो वह अकेला कमरा उसे काटने आने लगा। काम से छूटते ही उसका जी करता कि सीधे स्टेशन जाकर गाँव के लिए गाड़ी पकड़ ले। लेकिन, जिन्दगी मनचाहे कहाँ चलती है! उसकी अपनी अलग ही राह है, अलग गति और अलग परिणति। वह भारी मन लिए कुंठित-सा लौट आता था।

उन दुर्दान्त उत्पीड़न और घुटन-भरे दिनों में उसके जीवन में मधु ना आ गयी होती तो वह अपने अकेलेपन से घबरा कर निश्चित ही किसी दिन वहाँ से भाग खड़ा होता।

उस दिन शाम को काम से लौट कर वह रोटी बेल रहा था कि उसे दरवाजे पर मधु खड़ी दिखाई दी। अपनी कच्छे वाली अर्द्धनग्न स्थिति में वह उसकी खूबसूरती को जानकर भी महसूस नहीं कर सका था। कुरता पायजामा के लिए वह अपने में ही सिमटा-सिकुड़ा रह गया था। उसकी उस संकोच-संभ्रम-भरी विमूढ़ दशा पर ही शायद वह मुस्काई थी। बोली— 'मुझे माचिस चाहिए।"

वह क्षण भर 'माचिस' का अर्थ नहीं समझ पाया था। उसकी दुविधा को सहज करने के उद्देश्य से ही शायद मधु ने कहा था— "मैं मधु हूँ। इस दूसरे कमरे में रहने वाली मेरी माँ है।"

दलपत ने बैठे-बैठे दरवाजे की ओर माचिस सरका दी थी। माचिस उठाकर मधु ने विनोद-भरे स्वर में कहा था— "उधर देखो उधर, तवे पर रोटी जल रही है!"

उसके जाते ही उसने झटपट कुरता-पायजामा पहन लिया था। जब मधु माचिस लौटाने आयी, वह रोटी बनाकर चारपाई पर बैठा था। उसने जल्दी-जल्दी कंघा भी कर लिया था और पसीने से चिपचिपा चेहरा

भी पोंछ लिया था।

मधु आयी, पर माचिस देकर भी गई नहीं। दरवाजे के सहारे खड़ी उसने बातों का ऐसा सिलसिला शुरू किया कि उसके हर प्रश्न को वह आखिरी प्रश्न समझता और वह उसके हर उत्तर से नया प्रश्न निकाल लेती।

उसे याद है, मधु का पहला प्रश्न था— "शादी हो गयी?" प्रथम परिचय में ही सहसा उठाये गये इस नितान्त व्यक्तिगत प्रश्न से वह सकपका गया था। उसने नतमुख कहा— "हाँ।" और फिर सिर उठाकर वह भी पूछ बैठा—"और तुम्हारी?"

इस पर मधु खिलखिला कर हँस पड़ी थी— "मर्द का तो कुछ पता नहीं चलता कि विवाहित है, या कुँवारा। लेकिन औरत का तो शादी के बाद साइन-बोर्ड लटक जाता है। माँग का सिंदूर, माथे की बिन्दी, मंगल सूत्र, ये सब विवाह के साइन-बोर्ड ही तो हैं।"

दलपत के चेहरे पर मूर्खता की झेंप आयी देखकर उसने प्रसंग बदलते हुए पूछा था—"अपनी बायड़ी (पत्नी) को साथ क्यों नहीं रखते?"

"माँ बाप बूढ़े हैं। गाँव में खेती-बाड़ी कौन देखेगा?"

"तो क्या तुम्हारी बायड़ी खेती-बाड़ी देखती है।"

"हाँ?"

"तुम्हारे यहाँ औरतें भी क्या खेती का काम करती हैं?"

"हाँ, हमारे यहाँ औरतें भी खेती का काम करती हैं ... और सच तो यह है कि औरतें ही खेती करती हैं। औरत के बिना वहाँ खेती नहीं। मर्द बस हल लगाता है और हुक्के पर बैठ कर आकाश-पाताल की गप्पें मारता है। खेती ही नहीं, जंगल से घास-लकड़ी और दुर्गम पहाड़ी रास्तों से होकर झरने से पानी लाना, घर की रसोई, गौशाला में गोबर निकालने से लेकर दूध निकालने तक के सारे बाहर-भीतर के काम औरतें ही करती हैं।"

"बावा, रे बावा !" मधु ने गुजराती विस्मय प्रकट किया था– "इतने कामों में तो औरत औरत नहीं रह पाती होगी।" फिर हँसकर बोली — "जल्दी अपनी बायड़ी को यहाँ ले आओ, नहीं तो वह औरत नहीं रह पायेगी और तुम्हारा कुंडा हो जायेगा।"

दलपत की सप्रश्न दृष्टि देखकर उसने पूछा— "नहीं समझे क्या ?" और फिर समझाते हुए बोली— "औरत जब बाहर के कामों में लग या लगा दी जाती है, तो वह मर्द की तरह ठूंठ हो जाती है, उसका औरत होना छूट जाता है ।"

दलपत को भकुवाया देखकर वह आगे बोली— "अब भी नहीं समझे ! अरे भई, औरत में एक अपनी निजी विशेषता होती है । उसके रहने पर ही वह पुरुष के लिए आकर्षक होती है । मर्द के कठिन-कर्कश कामों में खटती औरत मर्द-जैसी कठोर हो जाती है । फिर जो मर्द में है, वही औरत में हो जाये तो मर्द उसकी ओर खिंचेगा ही क्यों ! पुरुष तो उस चीज के लिए स्त्री की ओर खिंचता है, जो उसमें नहीं है । तन-मन की कोमलता ही औरत की विशेषता है । मर्द के कठिन शारीरिक कामों में वह उस विशेषता को खो देती है।"

मधु और भी बहुत कुछ बोली थी। लेकिन वह सब उसे याद नहीं । हाँ उसने यह भी कहा था— "तुम लोग क्या शादी इसलिए करते हो कि औरत खेती-बाड़ी के काम में मिट्टी होती रहे और मर्द शहरों में कहीं रोटी बेलता रहे !"

*

वह घाटी में चट्टानों के बीच से कलकल-छलछल करती बहती नदी के किनारे उतर आया था। जूते उतार कर उसने पैण्ट को नीचे से दो तीन उलटे दो और जूते उठाकर पानी पार किया । उस पार पहुँच कर एक चौड़ी पसरा चट्टान पर सामान रखा। फिर नदी पर

आ कर हाथ मुँह धोया। सन्दूक खोला तो कपड़ों में रखी फिनाइल की गोलियों की महक पाकर उसे प्रातः काल की पहली किरण के स्पर्श से सहसा चटक कर सुगन्धित साँस छोड़ती कली याद आ गयी। पता नहीं, वह कौन सी निगूढ़ भावना थी, जिसने फिनाइल की महक को कली की सुगन्धि से तद्रूप कर दिया था, लेकिन तब उसे यही अनुभूति हुई थी।... खुरदरे-नये तौलिए से हाथ-मुंह पोंछ कर उसने इसी दिन के लिए सिलाई नई पैंट और रेडीमेड रंग-बिरंगी चित्रमयी बुश्शर्ट निकाली। धूल-धुएँ और पसीने से चीकट सफरी कपड़ों को लापरवाही से सन्दूक में ठूँस कर वह नये कपड़ों में सज गया। फिर उसने बालों पर कंघी करते हुए आईने में अपना चेहरा इधर-उधर घुमाकर देखा कि बालों की इस सज्जा के साथ वह कितना आकर्षक हो गया है। एक हल्के झटके से उसने माथे पर बालों की लट कुंडलित की और फिर अपने पर ही रीझकर मुस्करा उठा।

समय जानने के लिए उसने पीछे की चढ़ाई की ओर देखा। पश्चिम पर्वत की छाया आधी चढ़ाई चढ़ चुकी थी। फिर आगे की चढ़ाई की तरफ देख कर उसने झटपट सामान समेटा और रास्ते लग गया।

*

...उस दिन के बाद तो फिर मधु जब-तब कमरे में आने लगी। पहले दिन जब आयी थी उसका पुरुष संकोच के आवरण में दुबका-सा रह गया था। फिर माचिस लौटाने आयी तो वह हृदयस्थ पुरुष चोरी-चोरी परदा हटा कर झाँकने लगा था। फिर धीरे-धीरे परदा पूरा खिच गया था और उसका वह अन्तर्गूढ पुरुष मंच पर प्रत्यक्ष हो गया था। नारी की प्रगल्भता पुरुष को चुटकी में अनावृत कर देती है।

एक दिन जब वह कमरे पर ताला डालकर काम पर जा रहा था मधु ने आकर कहा— "चाबी मुझे दे जाओ।"

उसकी मेंहदी रची गोरी-कोमल हथेली पर चाबी रखते हुए दलपत ने पूछा— "चोरी करने का इरादा है क्या ?"

"चोरी नहीं, डकैती !" मधु ने कहा— "चोरी छिप कर होती है, डकैती खुल कर।"

शाम को काम से लौट कर जब उसने अपना कमरा देखा तो चौंधियाया-सा घूरता रह गया था। अपने बेतरतीब कमरे को साफ सुथरा और व्यवस्थित देख कर उसे अनुभव हुआ कि स्त्री के स्पर्श से बेजान चीजों में भी जान पड़ जाती है। कमरे की प्रत्येक वस्तु उसे गाती-मुस्काती लगी थी।

दूसरे दिन मिल से छुट्टी थी। मधु ने मैटनी शो में सिनेमा देखने का प्रस्ताव रखा। वह तैयार हो गया। योजना के अनुसार वह रिलीफ टाकीज पहले पहुँच गया। टिकट लेकर वह बाहर फुटपाथ पर मधु की प्रतीक्षा में खड़ा था कि धड़धड़ाता हुआ एक आटोरिक्शा उसके पास आकर रुका। उसने मधु को किराया देकर आटोरिक्शा से उतरते देखा तो देखता ही रह गया। क्या शृंगार था उसका ! नख-शिखान्त हरितवर्णी शोभा ! हवा में सघन कुंचित केशराशि की उच्छृंखलता को बाँध कर रखने वाले फीते भी हरे थे। गौर प्रशस्त भाल पर बिन्दी भी हरी थी। कंबुग्रीवा पर अर्धचन्द्राकार इकलड़े हार के मोती भी हरे थे। वक्ष के उभार को उसकी पूरी बनावट के साथ प्रदर्शित करने वाला चुस्त ब्लाउज भी हरा था। सानुपातिक अंगयष्टि को अवेष्टित करती साड़ी भी हरी, गोल मांसल कलाइयों को अपनी गिरफ्त में लिए चूड़ियाँ भी हरी, कलात्मक अंगुलियों के आगे-निकले वर्तुल नखों पर नेल-पालिश भी हरी और पाँवों में झूलती हरी साड़ी की प्रतिस्पर्धा में आगे निकली चप्पलें भी हरी। उस हरितवर्णी सज्जा पर यौवन की प्रसन्नकान्ति में दमकता उसका गौर मुख-मंडल ऐसा प्रतीत होता था जैसे हरित पल्लवों से लदी किसी मनोहर छरहरी डाल

पर कोई अलौकिक प्रसून अपनी दिव्य आभा में खिला हो।

उसे उस विमूढ़ दशा में देख कर मधु ने मुस्कुराते हुए कहा था— "इस तरह क्या घूर रहे हो ! औरत नहीं देखी क्या अब तक ?" और उसकी बाँह पकड़कर खींचते हुए बोली थी— "चलो।"

चलते हुए दलपत ने कहा— "औरत तो देखी है, पर रूप-सौन्दर्य पर शृंगार को इस तरह फबता हुआ आज तक नहीं देखा !"

यह सुन कर प्रसन्नता से खिल उठी मधु की मुट्ठी उसकी बाँह पर और अधिक कस गयी थी और वह आत्मा-विस्मृत-सा बाल्कोनी की सीढ़ियाँ चढ़ रहा था।

अन्धकार-पूर्ण सिनेमा हाल में पार्श्व में बैठी रूपसी के साहचर्य की मादक कल्पना लेकर ही उसने बाल्कोनी का टिकट लिया था। संयोग से बाल्कोनी में दर्शक भी कम थे और उन्हें बैठने के लिए निर्द्वन्द्व एकान्त स्थान भी मिल गया था।

सिनेमा छूटने-पर जब वे बाहर सड़क पर आये, आगे का शो देखने आये मिल के एक साथी मजदूर ने उससे पूछा था—"कैसा खेल है, दलपत ?"

दलपत हतप्रभ सा सोच नहीं पाया कि क्या कहे ! खेल देखा ही किसने था ! पिक्चर तो उनके एक-दूसरे में खो जाने का बहाना बन कर रह गई थी। मधु उसकी दुविधा-ग्रस्त मनःस्थिति को ताड़ गयी थी। वह तत्काल बोली— "ठीक-ठीक है; न बढ़िया, न घटिया।"

"हाँ, ऐसा ही है।" दलपत ने समर्थन किया था।

साथी मजदूर को इस तरह चलता करके वे दोनों एक दूसरे को देखकर मुस्कुरा उठे थे कि कैसा टरकाया !

मधु के साथ के वे कुछ दिन उसके लिए कितने मादक, कितने स्वप्नमय और इसीलिए कितने सहज हो गये थे। लेकिन, तब भी वह गह-

राई से महसूस करता था कि कौसल्या दूर रहती हुई भी उसकी अपनी है और मधु पास होकर भी परायी। मधु का आकर्षण कौसल्या के वहाँ न होने का आकर्षण है और कौसल्या के होने पर सब कुछ कौसल्या का ही हो जायेगा।

चढ़ाई पार कर खेत-खेत सीधा रास्ता चलते हुए उसे वह रात याद आयी जब वह मिल की दूसरी पाली से छूट कर रात के एक बजे घर आया था। कमरे में घुस कर बिजली का बटन दबाने बढ़ा ही था कि मधु चुपके से आकर उससे सट कर खड़ी हो गयी थी और दूसरे ही क्षण वे दोनों उत्तप्त-उष्ण उच्छ्वासों में लिपट गये थे।

*

गाँव की सीमा पर पहुँचा तो सूरज ढल चुका था। उसने देखा, अपनी बकरियों को 'ऐं लें', ऐंलें' की एक विशेष आवाज में बुलाता गाँव का रुद्रू दा एक चट्टान पर खड़ा है। बकरियाँ सिमटती जा रही थीं। वह नजदीक आया तो रुद्रू दा ने उसे पहचान कर भी पूछा— "दलपत ही हो न ?"

"हाँ, रुद्रू दा !"

"बड़े ठाठ हैं; पहचान में ही नहीं आ रहे हो !" वह कह कर रुद्रू दा ने अपने जर्जर-चीकट गबरून के कोट का, धागे पर झूलता एकमात्र बटन फटे ढीले काज पर अटकाया।

वहीं रास्ते के किनारे बैठ कर दलपत ने पिट्ठू खोलते हुए उससे पूछा— "घर में सब ठीक-ठाक तो हैं न, रुद्रू दा ?" "हाँ, सब ठीक हैं।" रुद्रू की निगाह पिट्ठू मे थी। "मेरे माँ-बाप कैसे हैं ?" रुद्रू को चने-इलायचीदाने देते हुए दलपत ने पूछा।

इलायची दाना टूंगते हुए रुद्रू ने कहा— ठीक हैं।"

"और वह ?" दलपत के चेहरे पर झेंपीली मुस्कान थी। किन्तु गरदन झुकाए रुद्रू को चुप देख कर उसकी मुस्कान आशंका की बदली में

छिप गयी। वह व्यग्रता से बोला– "क्या बात है, रुद्रू दा ! चुप क्यों हो ? कहते क्यों नहीं, कौसल्या कैसी है ?"

"यह मैं न बता सकूंगा, दलपत !" रुद्रू के स्वर में दीनता-भरा अनुरोध था– "घर में काका से पूछ लेना।"

"तो क्या कौसल्या ··· ··········?"

'अरे नहीं," रुद्रू दा ने उसकी आशंका को ताड़कर फौरन कहा– "ऐसी कोई बात नहीं।"

"तो फिर कैसी बात है ?" दलपत उसको झकझोरता बोला।

"काका ने क्या तुम्हें कोई खबर नहीं दी ?"

"कैसी बातें करते हो ?" दलपत झुंझला कर बोला— "खबर दी होती, तो तुमसे पूछता क्यों ?"

"हाँ, उन्होंने सोचा होगा कि खबर सुनकर कहीं परदेश में लड़का कुछ कर न बैठे।"

"रुद्रूदा ?" दलपत चीखा– "भगवान के लिए जल्दी कहो, क्या बात है ?"

विवश होकर रुद्रू ने बताया — "काका ने तुम्हारी औरत को घर से निकाल दिया है।"

"निकाल दिया ! लेकिन क्यों ?"

"वह बिरजू के साथ बदनाम हो गयी थी।" नतमुख रुद्रू बोला।

"नहीं !" दलपत की चीख से घाटी की खामोशी में दरार पड़ गयी– "यह कभी नहीं हो सकता।"

'अब घर जाओ, भैया, ! धीरज रखो।" और रुद्रू अपनी सिमट आयी बकरियों को घर के रास्ते पर हाँकने लगा था–"ऐंऽऽ ले। ऐंऽऽ ले !"

*

उस रात माँ के लाड़-भरे आग्रहों और पिता के व्यावहारिक

उपदेशों के बावजूद दलपत से खाने का एक कौर भी नहीं चला। कौसल्या के बारे में माँ-बाप ने, जो वे जानते थे, सब कुछ दलपत को बातों ही बातों में बता दिया था। सोने के कमरे में भी आकर वे उसे समझाते रहे— "बेटा ! धीरज रख। तू तो कमाऊ पूत है। तेरे लिए ऐसी बहू तजबीज कर रखी है कि इसे तू कभी याद भी नहीं करेगा। अब तू ही सोच जो गाँव में बदनाम हो गयी, उसे हम घर पर कैसे रखते। गाँव वाले थू:-थू:, छी:-छी: कर रहे थे। एक नहीं सभी कहते थे कि वह बिरजू के साथ फँसी है। कुछ देखा होगा, तभी तो कहते थे। गाँव में इतनी बहुएँ हैं— एक-से-एक जवान, एक-से-एक सुन्दर, उनके बारे में क्यों नहीं कहते ? लोगों ने तिल का ताड़ भी बनाया हो, तो भी यह ऐसा मामला है कि इसका तिल भी बुरा। फिर भी हमने उसे न डाँटा न डपटा; न मारा, न पीटा। बस चुपचाप कहा कि सुबह-सबेरे मुँह अन्धेरे यहाँ से मुँह काला कर। ये लच्छन जी खोल कर अपने मायके में दिखाए अपनी माँ राँड को। वह मायके चली गई। उसका बाप भला आदमी था, इज्जत- आबरू वाला। वह जिन्दा होता तो यह सुनकर उसे काटकर फेंक देता ! पर जानते हो उसकी माँ क्या कहती है ? मैं मुकदमा चलाऊँगी। बड़ी आयी मुकदमा चलाने वाली ! घर में कानी कौड़ी नहीं और मुकदमा चलायेगी !"

दलपत ने कातर स्वर में कहा— "जो होना था, वह हो गया, पिता जी ! अब मुझे नींद आ रही है। मैं बहुत थका हूँ।"

वह एकान्त चाह रहा था। अपने अन्तर्द्वन्द्व के बीच घुस कर उस भयावह अन्धकार पूर्ण दिग्भ्रम में वह स्वयं अपनी राह तलाशना चाहता था।

माँ-बाप के दूसरे कमरे में चले जाने पर उसने लालटेन बुझाई और अपने एकान्त बिस्तर पर नि:शब्द छटपटाने लगा। उसके जीवन में वह जो अप्रत्याशित घट गया था, उसकी प्रचंड मर्मान्तक दाहकता में वह

फुंका जा रहा था। नहीं-नहीं, कौसल्या ऐसी नहीं हो सकती। लोग तो बस यों ही अँधेरे में टटोलते हैं। हाथ पड़ता है रस्सी पर और चिल्ला उठते हैं– साँप-साँप। और फिर अँधाधुंध लाठी बरसाने लगते हैं। कौसल्या पर उसके माँ-बाप की लाठी इसी तरह बरसी है। लोगों ने झूठ-मूठ कान भर दिये और इन्होंने उसे घर से निकाल दिया। बिरजू उसके पीछे पड़ा रहता था; तो इसमें कौसल्या का क्या दोष ? वह तो अपने काम से काम रखती थी। खेत मैं, जंगल में, झरने पर जहाँ भी वह होती, बिरजू उस पर चील की तरह मँडराने लगता और झपट्टा मारने के लिए मौका तलाशता रहता। वह खेत में होती तो वह ऊपर के खेत की मुँडेर पर उगे किसी पेड़ की शाखा पर बैठ जाता और हँसी-ठिठोली करता धुँआधार में बीड़ी फूंकता रहता। ऊपर-नीचे दूसरे खेतों में काम करती औरतों की तरफ भी चौकन्ना रहता कि कोई कुछ सुन न रही हो। जंगल में भी पीछे-पीछे लगा रहता। कहता— "भाभी ! घास के लिए कहाँ-कहाँ भटकेगी ! ला अपनी दराती मुझे दे। इस पेड़ से अभी तेरे लिए गट्ठर भर घास गिरा देता हूँ। भला कौन घसियारी इसे पसन्द न करती ! कौसल्या उसे दराती दे देती और वह धोतीप्रसाद बिरजू पेड़ की शाखा पर पाँव चौड़ाता कहता — "ऊपर न देखना, भाभी। बस कटी टहनियों का गट्ठर बाँधते जाना !" और फिर ठहाका मारता। यह देख-सुनकर ही तो गाँव वालों को दाल में काला नजर आया !

झरने पर भी कभी उस पर पानी उछाल देता, धार के पानी में मिट्टी बहा देता और कौसल्या को भरी गागर उँडेलनी पड़ती। किसी तरह गागर भरती तो कहता— "ला, भाभी ! मैं उठा देता हूँ तेरे सिर पर गागर।" और गागर उससे सट कर सिर पर रखता था। लोग अंधे नही, जो देखते न रहे हों। ठीक है, देवर भाभी के बीच हँसी-ठिठोली का रिश्ता एक आम बात है। पर इस तरह की हरकतों के बीच वह रिश्ता आम बात तक सीमित रहा ही कहाँ ! आम बात ही रहती तो आम लोग इस

पर अँगुली ही क्यों उठाते ! देवर भाभी की शाब्दिक नोंक-झोंक, हँसी-मजाक तो बड़े-बूढ़ों में भी खुले-आम चलती है। लेकिन, जब यह सम्बन्ध इस तरह की मर्यादाहीनता और स्वेच्छाचारिता से जुड़ जाता है तो वही असामान्य होकर अपवाद का विषय बन जाता है।

बिरजू की नीयत बुरी थी तो कौसल्या उसे झिड़कती क्यों नहीं थी ? हँसकर बढ़ावा क्यों देती थी ?

और उसे सहसा मधु की याद आ गयी। उसके साथ अपने सम्ब-न्ध याद आ गये। निश्चित ही बिरजू और कौसल्या में भी यही सम्बन्ध रहे होंगे। तभी तो बिरजू निर्द्वन्द्व छेड़खानियाँ करता था और कौसल्या हँसती-मुस्कराती रहती थी। अपने मामले में उसे मधु का दोष दिखाई दिया क्योंकि पहल उसकी थी। वही बार-बार उसके कमरे में आकर उसे कुरेद जाती। वरना वह तो अपनी कौसल्या में ही खोया रहता था। लेकिन इस मामले में बिरजू की पहल समझकर कि उसी ने भोली-भाली कौसल्या को अपने जाल में फाँसा, बिरजू के लिए सहसा उसके हृदय में क्रोध की आग भड़क उठी। उत्तेजना में उसका माथा तवे-सा तपने लगा। वह चारपाई पर उठ बैठा, दाँत किटकिटा उठा और उसकी मुट्ठियाँ कस गयी। बिरजू को खत्म करने का निश्चय एक विकराल दैत्य के रूप में उसमें जाग गया। बिरजू की जान लेने पर उसे पकड़ा जायेगा। उसे फाँसी होगी। पर अब रह क्या गया है उसके जीवन में, जिससे जीवन पर मोह हो। उससे बड़ी फाँसी तो बिरजू ने उसके गले में डाल दी है। जीवन भर पल-पल तड़पाती इस फाँसी से एक घड़ी की वह फाँसी लाख दर्जे अच्छी।

उसने अन्दर के कमरे की ओर ध्यान दिया। अर्ध-रात्रि की निस्तब्धता में नींद में बेसुध माँ-बाप की उतार-चढ़ाव वाली साँसें उसे साफ सुनाई दीं। वह आहिस्ता उठा कि कहीं चारपाई की चरमराहट उनकी नींद न तोड़ दे। दबे पाँव उनके कमरे में घुसा और टटोलता हुआ

देवी के पूजा-स्थान पर पहुँचा। उसका अनुमान ठीक निकला। खुंकरी वहीं देवी के पास रखी थी। उसे लेकर वह चुपचाप कमरे से सीढ़ियाँ उतरकर बाहर पथरीले चौक में निकल आया।

चारों ओर कृष्णपक्ष की फीकी चाँदनी फैली हुई थी। खोल से खुँकरी बाहर निकाल कर उसने अँगूठे से उसकी धार देखी। हाँ, एक झटके में काम तमाम हो जायेगा। चीं तक नहीं कर सकेगा। और उसने बिरजू के मकान की दिशा में देखा। उधर विशालकाय सेमल के पेड़ की एक ऊँची शाखा पर टँगा अष्टमी का चन्द्रमा खुँकरी-सा ही चमकता दिखाई दिया। चीड़ वन में उसे हवा सिसकती सुनाई दी। पता नहीं खुँकरी को खोल में रखते समय उसके हाथ क्यों काँप रहे थे !

वह चला तो उसे पाँव थरथराते महसूस हुए। अपने बुझते संकल्प को पुनः प्रज्वलित करने के लिए उसने फिर से सारे घटना-क्रम को कुरेदा, किन्तु वह ज्यों-ज्यों आगे बढ़ता जाता उसका संकल्प पीछे छूटता जाता था खुँकरी पर कसी उसकी मुट्ठी की पकड़ ढीलने लगी। हथेलियाँ पसीज उठीं और ठंडी पहाड़ी हवा में भी वह पसीने से तर-बतर हो गया था।

रास्ते के अँधेरे पहाड़ी नाले को पार कर जब वह ऊँची जगह पर चाँदनी में आया तो सामने एकदम लम्बमान पड़ी अपनी छाया से ही चौंक पड़ा था। पता नहीं, किस भय से वह थर-थर काँपता वहीं बैठ गया। संवभतः वह उसके मन का ही भय था कि उसका चट्टानी संकल्प मोम-सा पिघलने लगा था।

*

अज्ञात संदर्भ से जुड़कर अनायास उसके सामने मायके से मधु की विदाई का दिन उजागर हो गया। मधु ने उसका परिचय कराते हुए अपने पति से कहा था "ये दलपत जी हैं— बड़े अच्छे पड़ौसी। माँ की बड़ी देख-रेख रखते हैं।" इस पर उसके पति ने प्रसन्नता के साथ उससे हाथ मिलाया था और कृतज्ञता भी जाहिर की थी।

उसका पति नहीं जानता था कि मधु के लिए वह अच्छा पड़ोसी किस अर्थ में है ! इसलिए उसकी दृष्टि में भी वह एक भला आदमी था। पर क्या सचमुच वह भला आदमी है ? नहीं, वह पापी है, बिरजू की तरह पापी ! अन्तर केवल इतना है कि बिरजू का पाप प्रकट हो गया और उसका गुप्त रह गया। पर इस से उसका पाप पुण्य में नहीं बदल जाता ! मधु के पति की दृष्टि में वह चरित्रवान हो सकता है, पर क्या वह अपनी दृष्टि में सच्चरित्र रह गया है। मधु का पति यदि सत्य जान लेता तो क्या वह भी उसे इसी तरह मारने के लिए तैयार नहीं हो जाता ? पर उसे कुछ पता नहीं चला। वह खुशी-खुशी मधु को ले गया, जैसे कुछ हुआ ही न हो। कितना अच्छा होता कि वह भी बिरजू और कौसल्या के सम्बन्धों से अनजान रहता। जिन्दगी आसान थी, आसान ही रह जाती। अच्छाई में बुराई की जानकारी कितनी बदसूरत है कि घिन होती है। इस जानकारी को लेकर जीना कठिन हो जाता है। इसके विपरीत बुराई में अच्छाई का भ्रम इतना खूबसूरत है कि उसके साथ सब कुछ सहज रहता है।

वह यंत्र-चालित-सा वापिस लौटा और आकर अपने छज्जे की खुली हवा में बैठ गया। मधु के साथ की वह अन्तिम रात वाली घटना, जो उसके जीवन में अब तक महकती रही थी, अब उसके लिए घिनौनी और भयावह हो गयी थी। उस महकती लता के पीछे में काला नाग फुंकारता निकलकर उसकी चेतना को अब अपनी लौह-कुंडली में कसने लगा था। उसके विषदंशों की जहरीली आग उसकी नस-नस में भड़कने लगी थी। वह संज्ञा-शून्य-सा हुआ जा रहा था। उसकी आँखों से अनन्त विस्तार में छूटती चिनगारियों के बीच मधु और कौसल्या बारी-बारी से आती जा रही थी। मधु सजी-सँवरी, मुस्कराती दिखाई देतीं और कौसल्या दीन-हीन दशा में रोती-बिलखती। फिर देखा कि मधु अपने पति के साथ लरजती-थिरकती जा रही है। वह अरुणिम क्षितिज में विलीन हुई तो मौत के रास्ते पर अंधाधुंध भागती कौसल्या दिखाई दी। उसके पीछे

बिरजू हाँका-सा देता दौड़ा जा रहा था। और उसे कौसल्या एक चीख के साथ पहाड़ से गिरती दिखाई दी। दलपत की चीख छूट गयी—"कौसल्या !"

सन्नाटा थरथरा गया। वह अपनी ही आवाज से चौंक गया। उसे लगा जैसे वह आवाज उसके निगूढ़ अन्तर्मन से उठी हो। वह उसकी अन्तरात्मा का सम्बोधन था। उसने महसूस किया कि इस सम्बोधन के बिना वह इस नागपाश से मुक्त नहीं हो सकता। समुद्र-मंथन के इस अमृत को पाकर वह प्रसन्नता बोल उठा— "कौसल्या !" अब तुम ही मुझे इस नागपाश से मुक्त कर सकती हो"

और उसने देखा, नाग अपना फंदा छोड़कर महकती लता के पीछे अदृश्य हो गया था।

६/पिशाचिनी

कभी नशा करने का जी होता, तो गबरसिंह भाँग पीता था। यों एक-दो बार यार-दोस्तों के जोर देने पर उसने शराब पीने की कोशिश भी की थी, पर घूंट-दो-घूंट से ज्यादा वह चली ही नहीं। इसलिए जब भी उस के आफिस के साथी मिल-जुल कर शराब का प्रोग्राम बनाते, तो वह कहता— "शराब भी कोई पीने की चीज है! न खुशबू, न स्वाद। नाक के पास ले जाते ही तबीयत तिलमिला उठती है। किसी तरह हलक में ढकेलने की कोशिश भी करो, तो तीखी जलन और बदबू के कारण एकदम बाहर आने को हो जाती है। बाहर न आने दो, तो नाक के रास्ते निकल पड़ती है। जलन से नाक का बुरा हाल हो जाता है। इससे तो भाँग लाख दर्जे अच्छी! बादाम-पिश्ते व दूध-रबड़ी के साथ पीते ही तबीयत तर हो जाती है। नशा भी इतना रंगीन कि एक-से-एक हसीन नजारे आँखों के सामने तैरने लगते हैं। मन ऐसा एकाग्र हो जाता है कि जिस बात को ले बैठो, प्याज की तरह उसकी परत-दर-परत खुलती चली जाती है। स्थूल से चलकर ध्यान एकदम सूक्ष्म पर केन्द्रित हो जाता है। मतलब यह कि भाँग में व्यक्तित्व का केन्द्रीकरण होता है, जबकि शराब में विकेन्द्रीकरण! इसमें एकाग्रता का आनन्द है, तो शराब में बिखराव की बेचैनी। तभी तो यह देवाधिदेव महादेव की कंठप्रिया है! मेरी मानो, भाँग का प्रोग्राम बनाओ।"

उसकी इस दलील के जवाब में शराब के हिमायती उसके दोस्त कहते— "पीने में भले ही शराब में तलखी हो, पर पेट में उतरते ही जो मजा यह उठाती है, वह भाँग में कहाँ! भाँग में नशे का इन्तजार करते हुए बैठे रहो बगू बन हुए। घंटों बाद जब नशा चढ़ता है, तो आदमी

ऊलजलूल होता देखने लगता है। चारपाई पर लेटा हो, तो वह पायताने से उठती हुई दिखाई देती है । उधर दबाओ, तो सिरहाना उठने लगता है। डर के मारे आदमी चीखने-चिल्लाने लगता है कि बचाओ मैं गुब्बारा बन गया हूँ। मेरी हवा निकालो। वरना मैं आकाश में उड़ जाऊँगा। तभी तो लोग किसी को ऊटपटांग बोलते सुनकर कहते हैं— क्या बकते हो, भाँग तो नहीं खा रखी। और शराब ? क्या कहने इसके ! पेट में गई नहीं कि अगरबत्ती छाप आदमी में भी पहलवानी आ जाती है—दस-दस से भिड़ने को तैयार। घुन्ना आदमी भी भाषण देने लगता है। कंजूस उदार और नामर्द जवाँमर्द हो जाता है। भाँग फकीरीनशा है और शराब बादशाही नशा। कई फकीर शराब भी पीते हैं, पर हमने आज तक नहीं सुना कि अमुक बादशाह या नवाब भाँग का शौकीन था। और जरा बताओ तो, ये तमाम वैज्ञानिक आविष्कार किसने किये ? दुनिया को इतनी सुख-सुविधाएँ किसने दी ? मेरे भाई, यह सब पश्चिमी जाति का कमाल है, जो अंडा-मुर्गी-मांस-शराब का सेवन करती है। एक भी आविष्कार ऐसा बता दो, जो किसी भंगेड़ी ने किया हो।······तुमने महादेवजी की बात कही। वे भंगेड़ी न होते, तो समुद्र से चौदह रत्न निकले थे, किसी अच्छे रत्न के लिए अड़ते। भाँग-धतूरे के नशे में यह भी पहचान न रही कि उन्हें पीने के लिए जो दिया गया है, वह जहर है—कालकूट विष। विष्णु भंगेड़ी नहीं थे, इस लिए छाँटकर लक्ष्मी को अपने कब्जे में ले सके। समुद्र से निकले उन चौदह रत्नों में वारूणी, यानी शराब भी एक रत्न थी। भाँग का उस लिस्ट में कहीं नाम नहीं। और यह भी ध्यान देने की बात है कि शराब अमृत के बाद निकली थी। इसका मतलब है कि शराब अमृत का छोटा भाई है। बहन भी समझ लो, तो इससे कोई फर्क नहीं पड़ता। हिसाब से ली जाये, तो शराब भी अमृत का काम करती है। इसीलिए तो लोग दवा के साथ दारू का नाम लेते हैं। यानी अनेक रोगों में दारू ही दवा होती है।"

इस मदिरा-प्रशस्ति का प्रतिवाद करते हुए गबरसिंह कहता—

"शराब का मतलब ही खराब है। इसमें 'शर' और 'आब' दो शब्द हैं। 'शर' का मतलब है— शरारत या बदमाशी। और आब' माने पानी। यानी शराब वह पानी है, जिसे पीकर सिर्फ बदमाशी सूझती है। हत्याएँ, गुंडागर्दी, व्यभिचार, बलात्कार. दंगे-फसाद आदि जितने भी समाज-विरोधी कुकर्म हैं, सबकी जड़ में अक्सर शराब होती है। भंगेड़ी का इन कुकर्मों से दूर का भी रिश्ता नहीं। माना कि शराब बादशाही नशा है, पर जरा यह भी तो देखो कि बादशाहों और नवाबों की सल्तनतें और जागीरें किसके पीछे तबाह हुई ? मैं तो यहाँ तक मानता हूँ कि बादशाहों और राजा-महाराजाओं की शराबखोरी ही मुख्य कारण थी कि हमारा देश अंग्रेजों का गुलाम हुआ। ··· शराब लाख के आदमी को खाक में मिला देती है।"

लेकिन उस दिन एक बारात में यार-दोस्तों ने एक डबल पैग शराब गबरसिंह के हलक के नीचे उतार ही दी। गबरसिंह की रग-रग थिरक उठी। यात्रा की सारी थकान देखते-ही-देखते हवा हो गई। बाहर लाउडस्पीकर पर चलते जो गीत अब तक हल्ला लग रहे थे, अब अर्थ देने लगे थे। उसका नाचने का जी होने लगा था। शराब का दूसरा दौर शुरू हुआ, तो गबरसिंह मना न कर सका। सब नीट पी रहे थे। उनकी देखा-देखी वह भी बिना पानी के पी गया ! दोस्तों ने बढ़ावा दिया—"वाह गबरसिंह ! नीट पी गये और चेहरे पर तलखी की शिकन तक नहीं ! इसे कहते हैं पीना।" गबरसिंह ने एक बड़ा-सा पकौड़ा मुँह में ठूँस लिया था। अब वह चहकने लगा था। तीसरा पैग चढ़ाया तो बहकने लगा ! नशे से लड़खड़ाते स्वर में बोला— 'और डालो यार, अभी तो कुछ भी नहीं हुआ !"

"लेकिन यार, अब तो बोतल खत्म हो गई।" एक दोस्त ने कहा।

"पर पैसे तो खत्म नहीं हुए, क्यों गबरसिंह ?" दूसरे ने गबर-सिंह को उकसाया।

"वाह ! क्या बात कह दी।" गबरसिंह ने झूमते हुए कहा, 'पैसा हो तो कोई चीज खत्म नहीं होती।" यह कहकर उसने अपना मनीबेग निकाल कर उनके बीच उछाल दिया था—'यह लो ! पैसा तो साला आदमी के हाथ का मैल है।"

इसके बाद क्या हुआ, गबरसिंह को कुछ याद नहीं। सुबह जब उसकी बेहोशी टूटी, तो उसने अपने आप को बारात की बस में सीटों के बीच पड़ा पाया। उसने बुरी तरह मुड़े-तुड़े अपने सूट की धूल झाड़ी। सूट पर जगह-जगह चाट-पकौड़ी और चटनी के दाग पपड़ियाए हुए थे। उन्हें नाखूनों से खुरचा। मनीबेग देखा, तो खाली बैग ही बैग था मनी गायब ! वह यह सोचकर दो सौ रुपये लाया था कि इस बड़े शहर से बच्चों के लिए कुछ रेडीमेड कपड़े खरीद कर ले जायेगा। अब पत्नी पूछेगी, तो क्या कहेगा ? अब किया भी क्या जा सकता है। कह देगा जेब कट गई। सीधी औरत है, सच मान जायेगी। पर, इन हरामजादों ने किया बहुत बुरा। सारा पैसा उड़ा गये। अरे हंडिया का मुंह चौड़ा था तो बिल्ली को तो शरम चाहिए थी।

पर, गबरसिंह सँभला नहीं। वह जब-तब महफिलों में शरीक होने लगा था। फिर उसकी हर शाम रंगीन होने लगी। अपनी इस बढ़ती हुई शराबखोरी से घर की हालत गिरती देखकर जब कभी वह मन-ही-मन चिन्तित होता, भीतर से शराब की तरफ की एक आवाज उसे फुसलाने लगती। वह कहती—"आफिस के उबाऊ काम के बाद थोड़ा-सा दिल-बहलाव तो चाहिए ही। वरना जिन्दगी बेमजा हो जायेगी। आदमी ठूंठ बनकर रह जायेगा। दिन भर के काम से थके दिमाग को जैसी ताजगी शराब से मिलती है, वह और किसी चीज में नहीं। दिन काम के लिए हैं, तो रातें मौज-मजे के लिए। तीन-चौथाई दुनिया की रातें क्लबों में

थिरकती-झूमती बीतती हैं और तुम हो कि बेकार की फिक्र गले लगा रहे हो। शराब से जवानी जिन्दा रहती है। बेवक्त बुढ़ापा ओढ़ना कहाँ की अक्लमंदी!"

और गबरसिंह की हर रात शराब में गर्क रहने लगी । एक दिन जब सुबह उठा, तो ऐसा लगा जैसे धड़ के ऊपर सिर न हो, सिर की जगह पर चट्टान रखी हो। गर्दन जैसे बोझ से टूटी जा रही थी। तबीयत में काहिली और बैचैनी थी। उसे याद आया, एक दिन उसके दोस्त ने कहा था— "जहर की दवाई जहर होती है। शराब की खुमारी शराब से ही कटती है।"

इतवार का दिन था। इसलिए गबरसिंह निश्चिन्त होकर फौरन ठेके से शराब की बोतल ले आया। कप में शराब उंडेल रहा था कि उसकी पत्नी आ गई। उसे कप चढ़ाते देखकर तमक कर बोली— 'मैं तंग आ गई तुमसे। अब मुझसे नहीं रहा जाता। रात को तो पीते ही हो, अब दिन में भी पीना शुरू कर दिया! बच्चों के कपड़े चीथड़े हो गये हैं। घर में खाने के लिए दाना नहीं। मैं किस तरह तुम्हारा यह भारी बोझ उठाये चल रही हूँ, मैं ही जानती हूँ!"

इस बीच गबरसिंह पत्नी को सुना-अनसुना करके दूसरा कप चढ़ा चुका था। उसने झिड़क कर कहा— "बकवास बन्द कर। अपना पीता हूँ, तेरे बाप का नहीं।"

यह सुनकर हमेशा शान्त रहने वाली पत्नी गुस्से में यह कहती हुई बोतल पर झपटी—' अब घर में या तो यह शराब रहेगी, या मैं।"

बोतल को आफत में देखकर गबरसिंह ने खाली कप पत्नी के सिर पर दे मारा। वह 'हाय' कहकर जहाँ-की-तहाँ बैठ गई। चीख सुनकर बच्चे दौड़ते हुए कमरे में चले आये। माँ के चेहरे पर खून बहता देखकर वे आतंकित-से चीख पड़े। आस-पड़ोस के लोगों ने यह कोहराम सुना, तो दौड़े हुए वहाँ चले आये। गबरसिंह ने अब तक बोतल छिपा दी थी और कप के टुकड़े पाँवों से चारपाई की नीचे कर दिये थे।

लोगों ने पूछा— "क्या हुआ, गबरसिंह ? यह खून कैसा !"

गबरसिंह कोई बहाना खोजता, इसके पहले ही पत्नी बोली — "कोई खास बात नहीं, दरवाजे से टकरा गई।"

अब गबरसिंह बोला— हाँ, धोती में पाँव उलझ गया था।"

"तो खड़े-खड़े क्या देख रहे हो," लोगों ने कहा, "सिर पर गीली पट्टी तो बाँध दो। देखते नहीं, कितना खून बह रहा है।"

"हाँ-हाँ, सब कर लूंगा," गबरसिंह ने कहा, "आप लोग इस चिन्ता में न पड़ें।"

लोग तिरस्कृत-से उल्टे पाँव लौट गये। बाहर जाते हुए पड़ोसियों को गबरसिंह ने आपस में कहते सुना—"देखा नहीं कमरे में शराब के कैसे भभके चल रहे थे ...... जरूर यह सुबह-सुबह पी रहा था ...... औरत ने ऐतराज किया होगा, तो गुस्से में सिर फोड़ दिया ...... शराबी का क्या भरोसा, कुछ भी कर सकता है !"

गबरसिंह ने सुना, तो गुस्से से बौखला उठा। उसका जी हुआ, बाहर निकल कर एक-एक की धुनाई करदे। कहे कि सिर फोड़ा है तो अपनी औरत का, तुम्हारा तो नहीं फोड़ा, तुम्हारी बहू-बेटियों का, तुम्हारी औरतों का तो नहीं फोड़ा। साले चले आते हैं हमदर्दी जताने !

लेकिन उस बिगड़ी हुई उत्तेजित मनःस्थिति में उसे शराब की बोतल याद आ गयी। गट-गट पीकर वह अपनी औरत को दुत्कारते हुए बोला— "अब यहाँ क्या बैठी है, दफा हो यहाँ से। सुबह-सुबह तमाशा बना दिया हरामजादी ने !"

रोती-सुबकती पत्नी बच्चों को साथ लेकर अन्दर चली गयी। गबरसिंह ने छह वर्ष के बड़े लड़के मोहन को कहते सुना— "माँ, क्या तुम्हें पिताजी ने मारा !"

"नहीं बेटे ! वह तो मैं गिर गई थी !" माँ ने कहा।

"तो फिर पिताजी तुम पर गुस्सा क्यों कर रहे थे ?"

उत्तर में गबरसिंह ने पत्नी को सुबकते सुना। चार वर्ष का छोटा सोहन माँ को दिलासा देते हुए बोल रहा था— "माँ, तू रोती है, तो मुझे भी रोना आ जाता है। मत रो, माँ !" उसका स्वर रुआँसा था।

गबरसिंह भी भीतर-ही-भीतर एक अजीब करुणा से भर उठा था, जिसमें अपने लिए घृणा, ग्लानि और धिक्कार की भावना का मिश्रण था। उसका जी हुआ, वह बोतल को फोड़ दे और भीतर जाकर बच्चों को गले लगा ले। पत्नी के पाँवों पर गिर कर कसम खाये कि अब वह कभी नहीं पियेगा। लेकिन वह ऐसा कर नहीं सका। वह नशे का भावावेश था, जिसमें आदमी सब कुछ कर सकता है, पर शराब नहीं छोड़ सकता।

उसने बोतल निकाली। उसे आधी खाली देखकर वह चिन्ता में पड़ गया कि अब इतना भारी दिन इस आधी बोतल के सहारे कैसे कटेगा ! 'देखा जायेगा' कह कर उसने एक घूंट भरी। फिर बोतल को देखकर कि अब कितनी बची है, उसने उसे अलमारी के कोने में दूसरी खाली बोतलों के पीछे छिपा कर रख दिया। अचानक उसका ध्यान खाली बोतलों की ओर चला गया। गिनी, तो सोलह निकलीं। उसकी बाँछें खिल गयीं। आठ रुपये तो मिल ही जायेंगे ठेके से। दिन का काम तो बन गया, शाम की शाम को देख लेंगे— यह सोचकर उसने फिर बोतल निकाली और एक घूंट और चढ़ा गया।

उस दिन और सारी रात गबरसिंह टुड पड़ा रहा। उसे कैसे पता चलता कि उसकी पत्नी तपते बुखार में भी उसकी हर फरमाइश पूरी कर रही है। चाय के समय चाय, खाने के समय खाना उसे मिलता जा रहा था। कभी सिगरेट मँगाने का हुक्म देता, तो कभी कुछ और। दूसरी सुबह गबरसिंह ने ऑफिस से छुट्टी ले ली और फिर लगना शुरू कर दिया।

रात को वह ठेके में बैठा पी रहा था कि उसके पड़ोसी और आफिस के साथी अजयबाबू हड़बड़ाये-से उसके पास पहुँच कर बोले — "गबरसिंह ! भाभी की हालत बहुत खराब है, घर चलो।"

"अरे, हाल को मारो गोली," गबरसिंह ने कहा, "लो, तुम भी पिओ।"

"होश में आओ, गबरसिंह," अजयबाबू ने कहा, "भाभी को टिटेनस हो गया है। डाक्टर जवाब दे चुका है।"

"जब डाक्टर ही जवाब दे चुका है, तो मैं कौन-सा कद्दू पर तीर मार लूंगा।" गबरसिंह ने गिलास चढ़ाते हुए कहा।

अजय बाबू ने उसे खींचकर ले जाना चाहा, पर गबरसिंह ने झटके से अपने को छुड़ाते हुए लड़खड़ाती हुई आवाज में कहा—"मैं जानता हूँ वह इतनी जल्दी मरने वाली नहीं ! शाम तक तो भली-चंगी काम कर रही थी। यह सब बहाना है ...... अभी मेरा कोटा पूरा नहीं हुआ।"

आधी रात के लगभग गबरसिंह झूमता-झामता घर लौटा, तो चारों ओर सन्नाटा छाया हुआ था। घर का दरवाजा खुला देखकर उसे अपनी पत्नी की लापरवाही पर गुस्सा आया— "हरामजादी को कोई होश ही नहीं। कमरे में भी बिजली जली छोड़ रखी है ! घर गिरस्ती का कोई ख्याल ही नहीं !"

भीतर पहुँचा, तो अजयबाबू और उनकी पत्नी पर निगाह पड़ी —"अरे, तुम लोग यहाँ क्या कर रहे हो ?" फिर पत्नी को नीचे जमीन पर पड़ी देखकर बोला — "यह यहाँ क्यों लेटी है ? डाक्टर ने बताया क्या ?"

अजयबाबू की पत्नी सुबक उठीं। "अरे, तुम रोती क्यों हो ?" गबरसिंह ने कहा, "अजय बाबू ! बताया नहीं, यह यहाँ क्यों लेटी है ?"

"लेटी नहीं, लिटाई गई है।" अजयबाबू ने गुस्से से घुटकर कहा, "यह मर गई है।"

"मर गई है!" गबरसिंह ने इस तरह कहा जैसे वह मरने का मतलब न समझा हो। "ऐसे कैसे मर सकती है! तुम मुझे चकमा दे रहे हो। मरती, तो क्या बच्चे इस तरह चुपचाप सोये पड़े रहते। तुम झूठ बोल रहे हो। तुम समझ रहे हो मैं नशे में हूँ! हा-हा-हा-हा। अरे यहाँ तो ड्रम के ड्रम ऊँड़ेल दो, पेट थोड़े ही है, शराब का सागर है, पता ही नहीं चलता।"

यह कह कर गबरसिंह ने लड़खड़ाते हुए हाथ की बोतल एक किनारे रखी और बड़ी मुश्किल से शव के पास बैठ कर उसे झकझोरते हुए कहा— "मोहन की माँ, क्या तुम सचमुच मर गयीं!" यह कह कर उसने उसके सीने पर कान रखे। "यह तो टिक-टिक कर रहा है।" उसने खुश होकर अजयबाबू की तरफ देखते हुए कहा।

"यह घड़ी की टिक्-टिक् है।" अजय बाबू ने झिड़कते हुए कहा।

गबरसिंह ने दिवाल-घड़ी की तरफ देखा। ध्यान से उसकी आवाज सुनने की कोशिश की। हिलते पैंडुलम के साथ घड़ी टिक्-टिक् चल रही थी। विस्मय और विक्षोभ से भरी उसकी दृष्टि एकदम पत्नी की ओर मुड़ी। उसके चेहरे को देखकर ऐसा लग रहा था, जैसे मौत उसके सामने अपना अर्थ खोलती जा रही है। वह फटी-फटी आँखों से अपनी पत्नी की लाश को घूर रहा थ।। उसके चेहरे पर पड़ा कफन हटाया। पट्टी अब भी उसके माथे पर बँधी हुई थी। गबरसिंह के सामने कप मारने और पत्नी का चीख मारकर बैठ जाने का दृश्य एकदम उजागर हो गया। वह चीख मार उठा— "मोहन की माँ!" लेकिन सुनने वाला तो मिट्टी छोड़कर कब का जा चुका था।

गबरसिंह पत्नी की लाश से लिपटकर विलाप कर रहा था— "मोहन की माँ ! तूने कहा था— इस घर में या तो अब मैं रहूँगी, या यह शराब। मैं कसम खाता हूँ, मोहन की माँ, अब इस घर में यह पिशाचिनी नहीं रहेगी। लौट आ, मोहन की माँ, लौट आ।"

और गबरसिंह बेहोशी में लुढ़क गया था। पता नहीं वह प्रलाप और वह बेहोशी शराब के नशे की थी, या शोकावेग के कारण। बहरहाल पिशाचिनी अपनी बलि ले चुकी थी। लेती ही रही है और अब भी उसकी भूख कहाँ मिटी ! अपने शिकार की तलाश में वह यहाँ-वहाँ निरन्तर घूम ही तो रही है !

७ / जोंक

"छो ! छो !!" कहकर उसने बैलों को सोटी दिखाई । बैल डाँडे के खेत से उतराई की ओर मुड़ गये । वह उन्हें हाँकता हुआ सँभल-सँभलकर उनके पीछे-पीछे उतर रहा था । कन्धे पर हल था और पाँवों के नीचे रोड़ियों-भरा कैंचीमार ढलवाँ रास्ता । उस पर सुबह से अब तक की जुताई; उसके अंजर-पंजर ढीले पड़े थे । गर्मियों की चढ़ती दोपहर की धूप अलग शरीर जला रही थी । चारों ओर पत्थर तपने लगे थे और उन पर से सरसराती आती हवा भी कुछ गर्मा गयी थी । टोपी के नीचे से रिसता पसीना अब ठुड्डी से टपकने लगा था । प्यास से पपड़ियाए अपने होंठों पर उसने जबान फेरी । लेकिन वह भी गले तक खुश्क हो चली थी, कोई नमी नहीं छोड़ पाई होंठों पर । एक लोटा पानी साथ लाया था, कब का गटक कर चुका था । आखिरी हलिया था वह डाँड के खेत जोतने वालों में । वरना अपना पानी खत्म होने पर किसी-न-किसी से घूँट-दो-घूँट पानी मिल ही जाता । रोटी भी मिल सकती थी । सभी जानते हैं, वह अपने साथ रोटी नहीं लाता; ला नहीं सकता । इसलिए भाईचारे के नाते उससे पूछ लेते हैं 'रोटी खानी हो तो आ जा ।' वह 'ना' कह देता है । लेकिन आज नहीं कहता । पिछली रात अधपेट सोया था । उस पर सुबह से अब तक खेत में जुता रहा । अँतड़ियाँ गुत्थमगुत्था एक दूसरे को चबाती-सी लग रहीं हैं । प्यास अलग काँटे-सी हलक में चुभ रही है । पानी तो खैर नीचे घाटी में झरना है, वहाँ पी लेगा । लेकिन खाना ? और खेतों की उस हाड़-तोड़ मेहनत से उसका मन वितृष्णा से भर उठा । खेती के नाम पर पहाड़ खोदता है, लेकिन निकलती चुहिया भी नहीं ! क्या फायदा ऐसी खेती से ?

*

सुबह-सुबह, जब चिड़ियाँ अपने घोंसलों में कुलबुलाती हैं और गाँव के बीच के बरसाती नाले के किनारों पर छाये पेड़ों पर उनके तरह-तरह के कोमल-कर्कश स्वर फूट पड़ते हैं, वह खेत जोतने की चिन्ता में नींद से हड़बड़ाकर उठ बैठा था। ओबरी (नीचे का कमरा) से निकलकर बाहर आया था, तो मुँह-अँधेरे की ठंडी हवा में तेजी से तैरती चिड़ियों की चहचहाहट की ओर उसका ध्यान चला गया था। जब जवान था और यह गृहस्थी का जुआ उसकी गर्दन पर नहीं पड़ा था, कितना अच्छा लगता था उसे यह चिड़ियों का चहकना! दिल अजानी खुशियों में उछलने लगता था। चिड़ियों का यह ऊटपटाँग कोलाहल तब ऐसा लगता था जैसे ये सूरज के स्वागत में गीत गा रही हैं! उमर भी क्या चीज होती है! अपने गुजरने के साथ-साथ चीजों के अर्थ भी बदलती चलती है! और आदमी इसी उलझन में पड़ा रह जाता है कि जिन्दगी के इन बदलते-चलते अर्थों में सही-गलत क्या है? अब उसे चिड़ियाँ गाती नहीं, चीखती-चिल्लाती लगती हैं; जैसे गुस्से में भरकर डाँट रही हों कि उठो, खेत जोतने जाओ। उनका चहचहाना अब समय का सूचक बन कर रहा गया है उसके लिए। सुबह की ठंडी हवा भी अब मस्ती की फुरहरी नहीं जगाती, फटे-पुराने कपड़ों का अहसास जगाती है!

मेहनत से वह घबराता नहीं। लेकिन उसके कुछ अच्छे नतीजे भी तो सामने आयें। पहाड़ों के ये सीढ़ीदार छोटे-छोटे खेत, जिनकी मिट्टी बराबर बरसातें बहाकर ले जाती रही हैं और अब जो केवल कंकर-पत्थरों के खेत हो गये हैं, मेहनत तो पहाड़ काटने की-सी माँगते हैं, पर देने के नाम पर कनस्तर भर अनाज भी नहीं देते साल भर की मेहनत महीने-दो-महीनों का पेट भी नहीं भर पाती। जिनके कमाने वाले दिल्ली-देहरादून,. या छम्ब-लद्दाख में हैं, बस उनके ठाठ हैं। हर महीने गड़ागड़ मनीआर्डर आते रहते हैं। वे भाबर नैथानीजी के लिए लिख देते हैं— इतने खच्चर धान,

इतने खच्चर गेहूँ, इतना नमक-तेल-गुड़ फौरन भेजो। और खणमण-खणनण घंटियाँ बजाते खच्चर पंचायती चौक में आकर टाप देने लगते हैं। जिनके खच्चर आते हैं, उस दिन उनके चेहरों पर नजर नहीं टिकती ---ऐसी चमक रहती है उनके चेहरों पर ! सीधे मुँह बात नहीं करते ! जब अनाज की बोरियाँ पीठ पर लेकर अपने घर की ओर चलते हैं तो उनकी ढीली पिंडलियों में कसावट आ गई रहती है। बोझ के नीचे झुका सिर भी सातवें आसमान में उठा रहता है ! पूछो कि क्या ले जा रहे हो, गेहँ या धान ? तो ऐसे स्वर में जवाब देते हैं जैसे उसके साथ बात करने में अपनी हेठी महसूस कर रहे हों, या जैसे यह डर हो कि कहीं वह सेर-दो-सेर माँगने न पहुँच जाये ! उनके जवाब में ऐसी तिलमिलाहट भी रहती है जैसे खुशी में डुबकियाँ लेते उनके सिर पर पत्थर मार दिया हो ! तब अपने गये-गुजरेपन का अहसास उसे बुरी तरह मथने लगता है और घंटों मथता रह जाता है।

कहने वाले कुछ भी कहें, जड़ में भी यही बात है, जो उसकी औरत महेसी उसके साथ नहीं रह सकी। बरसों पहले अलग हुई तो मिलने का नाम ही नहीं लेती। बात-वचन भी बन्द है। छठे-चौमासे कभी खुलते भी हैं, तो झगड़े की शक्ल में ! निखट्टू-निकम्मा तो खैर वह है ही, लेकिन झगड़े में वह उसे नामर्द भी कह देती है ! वह भी इतनी जोर से कि सारा गाँव सुनकर समझ ले कि महेसी निपूती क्यों रह गयी और उसके मर्द से अलग रहने की वजह क्या है। नामर्द ! यानी महेसी को निगाह में उसकी पहचान 'ना' की तरफ से है, 'हाँ' की तरफ से वह कुछ भी नहीं ! शादी होने के बाद दो साल ही तो वह उसके साथ रही। उसमें भी मेल-मुलाकात की रातें उँगलियों में गिनी जा सकती हैं। दिन तो सभी झगड़े में ही बीते। उसके कोई बच्चा नहीं हुआ, तो वह नामर्द हो गया ! वह भी तो बाँझ हो सकती है। जो भी हो, अच्छा हुआ कोई बच्चा नहीं हुआ।

होता तो भूख में किसी के पपीते चोरता, किसी की नारंगी, तो किसी की कोई और चीज ········· माँ ने कितनी ही वार कहा, 'नत्थू, छोड़ इस राँड को, दूसरी शादी कर ले।' पर वह हमेशा बात टाल गया। वह बहुत पहले ही समझ गया था कि गरीब आदमी, न आदमी होता है, न मर्द। और अब तो वह उम्र के उस पड़ाव पर पहुँच गया है, जहाँ शादी की वात हँसी की बात हो जाती है। अब तो सवाल ही नहीं उठता। वह चाहता भी नहीं कि उठे।

माँ न होती, तो अकेले उसकी दुर्दशा ही हो जाती। लेकिन वह भी कब तक साथ देगी ? कभी भी टुरक सकती है। ऊपर-नीचे चढ़ते-उतरते एक हल्की-सी ठोकर भी उसकी आँखें पलट सकती है। वह गुजर गई तो मुसीबत खड़ी हो जायेगी। महेसी से कोई उम्मीद नहीं कि खेती-बाड़ी के काम से थका-माँदा आने पर एक लोटा पानी भी दे दे। झरनें से पानी लाना, कूटना-पीसना, चूल्हा-चौका सव कुछ उसे खुद ही करना पड़ेगा। महेसी के खेत वह जोतता है, क्योंकि हल लगाना औरतों का काम नहीं। लेकिन कूटना-पीसना तो औरतों का काम है, क्या महेसी सोचेगी ? नहीं ! वह तो उसका तमाशा देखेगी, जब वह चक्की के गिर्द बैठकर कोदा पीसता रहेगा, या बाहर चौक में बनी पत्थर की ओखली में झँगोरा (सवाँ) कूटेगा और कूटने पर सूप से उसका भूसा फटकेगा। वह कई बार झगड़े में कह भी चुकी है, 'हल लगाते हो तो कौन-सा अहसान करते हो ? बैलों के घास-पानी का जिम्मा भी तो बदले में ले रखा है। और तुम मेरा हल नहीं लगाओगे, तो क्या यह समझते हो, मेरे खेत बाँझ रह जायेंगे ? तुम नहीं लगाओगे तो मैं खुद लगाऊँगी। नाक तुम्हारी ही कटेगी।' नाक काटने के लिए महेसी उसकी औरत बन जाती है ! नाक रखने की भी क्या कभी सोचती है ?

बोलने में बहुत तेज है महेसी ! उसकी एक बात पर दस टह-नियाँ निकाल देती है। वह तो उसके सामने भकुवा कर रह जाता है। उसकी गुरू तो बस माँ ही है। झगड़े के समय माँ की सूखी नसों में पता नहीं कहाँ से गरम खून फूट पड़ता है? उसका शरीर तन जाता है। बुझी आँखें सुलग उठती हैं और आवाज भी धारदार। ऐसी खरी-खरी सुनाती है कि महेसी हकला उठती है, बगलें झाँकने लगती है। उस दिन भी उसके ताने सुनकर माँ ने कहा था, 'खेत केवल बैल नहीं जोतते, हलिया भी जोतता है। फिर यह नत्थू केवल हलिया ही नहीं, तेरा आदमी भी है। बैलों का घास-पानी करती है कभी इसका भी घास-पानी करती है? मीठे बोल तो दिये नहीं आते, और क्या देगी तू?'

लेकिन यह मानना पड़ेगा कि महेसी जहाँ जबान की तेज है, काम में भी तेज है। ताकत भी उसके शरीर में ठुकी पड़ी है। लोगों के बकस-बिस्तर मंडी तक पहुँचाकर उसी दिन वापस लौट आना कोई मामूली बात नहीं। जो मजदूरी मिलती है उसे नमक-गुड़-तेल जैसी जरूरी चीजें मंडी से खरीद लाती है। कपड़े भी उसके पास दो-तीन जोड़ी हैं। साफ-सफाई के लिए साबुन भी रखती है। उसकी देखा-देखी एक बार उसने भी मोहन भुला का सामान मंडी पहुँचाने के लिए ले लिया था। कैसी बुरी हालत हुई थी उसकी! मरखोले की चढ़ाई पर नदी से थोड़ा ही ऊपर चढ़ पाया था कि धौंकनी-सा हाँफने लगा था। प्राण अब निकले, तब निकले हो गये थे। वह अचेत-सा रास्ते पर लुढ़क गया था। मोहन भुला उसकी हालत देखकर बुरी तरह घबरा गया था, 'जब शरीर में जान नहीं दादा, तो यह काम उठाते ही क्यों हो?' कहकर उसने बिस्तर खुद उठा लिया था और वह सिर्फ एक छोटा-सा बकस ले जा सका था। उस बकस ने भी कंधों पर कैसे छाले डाल दिये थे। तब से उसने कान पकड़ लिए कि अपने बूते के बाहर का काम नहीं उठाएगा।

वह कई बार यह भी सोचता है कि सब्बल, छेनी और घन लेकर सुबह-सुबह घाटियों की तरफ निकल जाये और शाम तक चट्टानों से छज्जे तथा मकान और चौक छाने के लिए पटालें (पत्थर की स्लेटें) निकालने का काम करे। यहाँ के छज्जे और पटालों की बड़ी शोहरत है। दूर-दराज के लोग खरीदने आते रहते हैं। भरोसा दा साल के सूखे आठ महीने यही काम करता है और ठाठ से रहता है। लेकिन उसका-सा चट्टानी शरीर कहाँ से लाये वह ? सब्बल की ऐसी मार करता है वह कि चट्टान को चीर कर रख देता है। हथेलियाँ ऐसी ठोस और खुरदरी हैं उसकी कि उनके बीच गेहूँ पीस सकता है।

और एक वह है कि सुबह से हल ही तो लगाया, थककर चूर हो गया है। रास्ता उतरना भी मुश्किल हो रहा है। घुटने अब टूटे, तब टूटे हो रहे हैं। खाने की भी बात होती है। ढंग का खाना मिलता रहे, तो शरीर में जान भी रहे। लोगों की गाय-भैंसें हैं ... टोपा-टोपा-भर दूध पीकर सोते हैं। सुबह जब खेत जोतने चलते हैं तो पेट में लहसन कि चटनी के साथ घी-चुपड़ी गेहूँ और मंडुवे की मिस्सी रोटियाँ पड़ी रहती हैं। उसकी तरह खाली पेट हल लगाएँ तो पता चले कि कैसा जोर पड़ता है ! कल रात भी उसे पूरा खाना मिला होता तो इस समय इतना न टूटता, जितना टूट रहा है। थोड़ा-सा मँडुवे का आटा बचा था, दो टिक्कड़ ही बन पाये थे। माँ ने उसे डेढ़ रोटी दे दी थी। वह माँ का हिस्सा लौटाने लगा तो माँ बोली,'अरे इसमें हिस्से की क्या बात है ? मुझे भूख ही इतनी है। बल्कि यह आधी रोटी भी यों ही चिखला रही हूँ। मँडुवे की रोटी के लिए दाँत भी तो नहीं। चबाते-चबाते कनपटियाँ दुखने लगती हैं। ताजी-ताजी खालो तो खा लो, वरना ऐसी हो जाती है, जैसे चीड़ के बक्कल चबा रहे हों।' खाना खाकर और ऊपर से एक लोटा पानी पीकर उसने तृप्ति की डकार ली थी, ताकि माँ को उसके अधपेट रह जाने की फिकर रात भर कुरेदती न रहे। कहीं माँ डकार का अर्थ न समझी हो, यह सोचकर

उसने हाथ धोने के लिए उठते हुए कह भी दिया, 'मैं तो छक ही गया, लेकिन तू भूखी रह गई दिखती है ।'

'तू तिरपत हो गया तो मैं भी तिरपत हूँ,' माँ ने कहा, वरना मेरी अपनी भूख तो रही नहीं, तेरी भूख में परेशान रहती ।' माँ अब भी परेशान होगी यह सोचकर कि नत्थू थका-माँदा आयेगा, तो क्या खायेगा ? कुछ-न-कुछ घास-पात उबालकर तो उसने रखा ही होगा ।

*

उसके घुटने चीसने लगे थे । उसके आगे रींडा बैल चल रहा था उसकी पूँछ को कोई कीड़ा चर गया था । उसकी रींडी (टुँडी) पूँछ जाँघों के बीच दाएँ-बाएँ बल खा रही थी । घुटना लचक खाता तो नत्थू या तो उसके कूल्हे का सहारा ले लेता, या उसकी रींडी पूँछ थाम लेता । रींडा का जोड़ीदार बैल धौलिया गधेरे में पहुँच गया था और अब झरने की तरफ जा रहा था । कितनी ताकत है इस धौलिया में । यह बैलों में भरोसा दा है और यह रींडा वह खुद है । उसी की तरह हारा-थका और कमजोर । पता नहीं, ऐसा बेजान-सा क्यों हो गया है यह ? एक ही तरह का घास-पानी, एक ही तरह की देखभाल, काम का जोर भी एक ही तरह का । फिर भी धौलिया मस्ता रहा है और यह पस्त । अब देखो, धौलिया पानी पीकर किनारे की हरी-हरी घास चरने लगा है और एक यह है कि खाली चलने में भी जैसे इसकी जान निकल रही है । बीच-बीच में ऐसी साँस छोड़ता है जैसे बोझ के नीचे दबा हो । वह सहारे के लिए इसके कूल्हे पर हाथ रखता है, तो इसकी पीछे की टाँगे मुड़ जाती हैं । बेचारा मार बहुत खाता है ! हल लगाते समय सोटी की हर चटाँक इसी की पीठ पर पड़ती है । वह मारना नहीं चाहता, उसे मारना पड़ता है । यह हल पर चलते-चलते खड़ा हो जाता है । जब तक इसकी रींडी पूँछ मरोड़ी नहीं जाती, या इसकी पीठ पर चटाक् सोटी नहीं पड़ती, इसमें जान ही नहीं जागती ! धूलभरी इसकी पीठ पर सोटी के आड़े-तिरछे

निशान अब भी दिखाई दे रहे हैं। जहाँ सोटी पड़ी, इसके रोंएँ उछले हुए हैं। राम-राम, कमजोर होना भी कितना बुरा है!

वह फिर रींडा की जगह पर अपने आप को महसूसने लगा। वह भी तो इसी तरह कमजोर है। न वह महेशी की तरह बोझ ढो सकता है, न भरोसा दा की तरह छज्जे-पटाल निकाल सकता है। फिर भी रींडा उससे अच्छा है। कमजोरी को महसूसता तो नहीं। इसके अलावा इसे घर पहुँचते ही घास-पानी मिलेगा, जबकि उसके खाने का कुछ पक्का नहीं। इसे इसकी फिक्र भी नहीं कि घर जाकर कुछ मिलता भी है, या नहीं? लेकिन उसे, सुबह खा लिया तो शाम की चिन्ता रहती है और रात को दूसरे दिन की। कितना अच्छा होता, अगर वह जानवर होता। यह चिन्ता तो नहीं रहती, जो लगातार सीलन-सी उसके अन्दर फैलकर मन पर फफूँद चढ़ाती रहती है।

*

झरने पर आ कर उसने एक चट्टान के सहारे हल टिकाया और टोपी उतारकर चेहरे का पसीना पोंछा। टोपी में जज्ब पसीने और मैल की गंध उसके नथुनों में घुसी, लेकिन वह उसकी अपनी परिचित गंध थी—सहज। उसके चेहरे पर इसकी कोई प्रतिक्रिया नहीं उभरी।

झरने के नीचे बने स्वच्छ जल के कुंड मे रींडा पानी पीने लगा था। उसने अपने मिट्टी-सने हाथ धोए। कुल्ला किया। अपने पपड़ियाए होंठों को धोया। फिर अंजलि भर-भर पानी पीने लगा। तभी उसकी निगाह रींडा के नथुने पर पड़ी। उँगली बराबर एक मोटी जोंक, जिसका काला रंग खून चूस-चूस कर कुछ लला गया था, रींडा के नथुने से लटककर पानी में लपलपा रही थी। नाक में उसकी सरसराहट से ही जैसे रींडा को एक जोर की छींक आई। लेकिन जोंक की पकड़ मजबूत थी। वह बजाए बाहर गिरने के एकदम नाक के अन्दर अदृश्य हो गई। 'तो यह बात है,' उसने सोचा, 'तब तो मैं कहूँ कि यह कमजोर क्यों हुआ जा रहा है?

आज ही घर जाकर इलाज करूँगा इस जोंक का। साली कैसी मुटा गई है ! सारा भेजा ही खोखला कर दिया होगा इसने मेरे रींडे का !'

वह हल उठा ही रहा था कि उसकी निगाह झरने के किनारे उगी मूसला की नन्हीं-नन्हीं बेलों पर पड़ी। बैलों को देखा, वे हरी-हरी घास पर जल्दी-जल्दी मुँह मार रहे थे, जैसे एक दूसरे से होड़ ले रहे हों कि कहीं दूसरा न चर दे। उन्हें मजे में देखकर उसने सोचा कि वह भी तब तक दो-चार मूसला खोदकर खा ले। भू-स्खलन की उस पोली जमीन में से मूसला खोद कर निकालने में उसे खास कठिनाई नहीं हुई। सकरकन्दी की तरह के टोपी-भर मूसला धो-धाकर जब खाने लगा तो उसका दूधिया स्वाद उसे बड़ा जायकेदार लगा। उसे ऋषि-मुनियों का ध्यान आ गया, जो ऐसे ही कन्द-मूल खाकर रहते थे। फिर भी चेहरे पर चमक और शरीर में ताकत ! उनके पास कौन-से अनाज के भंडार थे ? यही सब खाकर सैकड़ों बरस तक चुस्ती के साथ जीते थे। क्या वह भी इसी तरह नहीं रह सकता ? दो-चार मूसलाओं के बाद उसके मुँह का दूधिया स्वाद बकबका होने लगा था। उसने टोपी के शेष मूसला एक ओर फेंक दिये। बिना अन्न और नमक-मिर्च के भी कहीं रहा जा सकता है ! जरूर ऋषि-मुनि दो-चार दिन बाद गृहस्थियों के घर पहुँचकर भात-दाल खाते रहे होंगे। और उसे हंसराम काका की बरसी का भात-दाल याद आ गया। पत्तल में भात की क्यारी बनाकर और उसमें उड़द की दाल भरवाकर उसने कैसा सपोड़ा था ! गरम मसालों की कैसी भभकेदार लड़बड़ी दाल थी। फिर उड़द की पकौड़ी, कई तरह की सब्जियाँ और बाद में खीर —सोंधी, मीठी और मलाईदार। मजा आ गया था। पेट भर गया था, पर जी नहीं भरा था। अब तीन-चार बुड्ढे और रह गये हैं गाँव में ... .राम-राम, उसे ऐसा नहीं सोचना चाहिए !

*

गाँव के बीच से गोशाला की ओर जा रहा था कि किसन दा

की आवाज सुनाई दी, 'नत्थू, जरा इधर सुनना।'

तिवारी के बीच के खंभे पर पीठ टिकाए हुक्का पीते किसन दा की ओर देखते हुए उसने पूछा, 'क्या है, किसन दा ?'

'यार भुला एक खेत की मेड़ चिननी थी,' किसन दा ने खुशामद के-से स्वर में कहा, 'जिस समय मौका मिले। आज ही कोई जरूरी नहीं। डांड के खेत जोत लिए पूरे ?'

'हाँ'

'तो कल चिन देना,' किसन दा ने कहा 'यह जो हमारा सगोड़ा है न मकान के पीछे, वही उजड़ा है। तूने तो देखा होगा ? राम प्रसाद का नीचे वाला खेत घिरा पड़ा है। वह कई बार टोक चुका है — मुझे अपनी साग-सब्जी बोनी है अपने खेत की दीवार चिनो.........'

किसन दा की भाषणबाजी के बीच ही अपने बैलों को हाँकता हुआ नत्थू बोला, 'चिन दूँगा।'

'कल जरूर चिन देना, भुला' किसन दा ने कहा, पर नत्थू जवाब में चुप रहा। किसन दा समझ गया कि उसे नहीं करना होता तो साफ 'ना' कह देता। करेगा, इसलिए कुछ नहीं बोला। हाँ न बोलकर खाली अपनी अरुचि दिखा रहा है कि मन तो नहीं है, पर कर दूंगा।

रींडा को हाँकते हुए अचानक नत्थू को जोंक याद आ गई। वह चलते-चलते एकदम रुककर किसन दा से बोला, 'हे दा, थोड़ा तम्बाकू है ?'

'थोड़ा क्यों, पूरी गोली ले जा,' किसन दा ने कहा, 'लेकिन तू तो पीता नहीं, किसके लिए ?'

'इस रींडा के लिए।' उसने बैल की तरफ इशारा करते हुए कहा।

'क्यों ? क्या जोंक झाड़नी ?'

'हाँ दा, मेरी कलाई बराबर मोटी जोंक है इसकी नाक में !' यह कहकर उसने यों ही देखने के लिए अपनी कलाई पकड़ी। उसे दुबली-पतली महसूस कर उसे लगा कि उसने बात कोई बढ़ा-चढ़ाकर नहीं कही। उसकी कलाई मोटी नहीं और जोंक पतली नहीं। थोड़ा बहुत फर्क हो सकता है, वरना दोनों बराबर ही तो हैं।

*

तम्बाकू लेकर गोशाला में पहुँचा, तो वहाँ महेसी की ओर से रोज की तरह दो पूली घास और एक तौली पानी तैयार रखा था। बैलों को आमने-सामने खूँटों पर बाँधकर उसने पूलियाँ उनके सामने खोलकर डाल दीं। तौली भी उठाकर उनकी पहुँच में रख दी। बैलों ने पानी सूँघा और फूँ करके जंगल से लाये गये ताजे घास पर जुट गये।

वह बाहर जाकर तिमलू के पत्तों का दोना बना लाया। उसमें पानी के साथ आधी गोली तम्बाकू घोलकर वह रींडा की पीठ सहलाने लगा, जिससे वह आश्वस्त हो जाये। फिर गला खुजाने लगा, जहाँ कुछ फूले और ढेर सारे पिचके हुए चींचड़े चिपके थे। इनका भी लिया-दिया करना पड़ेगा, उसने सोचा, पहले इसकी जोंक तो झड़े। खुजाने के सुख में रींडा घास खाना भूल गया था। उसने अपनी गर्दन उठा दी थी, जैसे इस तरह संकेत दे रहा था कि जोर-जोर से खुजाओ, उसे बड़ा आराम मिल रहा है। उस सुख में उसकी आँखें बंद हो गई थीं और थूँथड़ा ऊपर। बस, नत्थू ने दूसरे हाथ में छिपाकर रखे दोने से तत्काल तम्बाकू का पानी उसकी नाक में झोंक दिया। रींडा एकदम उछल पड़ा और फूँ-फूँ करता हुआ खूँटे पर इधर- उधर बेचैनी से घूमने लगा। वह तो खूँटा मजबूत गड़ा था, वरना उखड़ गया होता। नत्थू ने फिर कभी काम आने के लिए तम्बाकू का शेष भाग वहीं छत की वल्ली पर रखा और रींडा को सहलाने के लिए हाथ बढ़ाया, लेकिन वह बिदक गया। जैसे कह रहा था कि अब वह धोखे में नहीं आयेगा।

रींडा की छींकें चालू हो गई थीं। छींक के छींटों से दूर खड़ा नत्थू जोंक गिरने का इन्तजार कर रहा था। उसे ज्यादा देर नहीं रुकना पड़ा। एक जोर की छींक के साथ जोंक झड़ गई—मोटी, लम्बी और ललछौंही। गोबरीली जमीन पर लप-लप कर रही थी। डलघास की एक टहनी से उछालता हुआ वह उसे बाहर लाया। फिर जोर से नीचे खेतों की ओर फेंक दिया, जैसे कभी बचपन में डंडे से गिल्ली फेंकता था। अब रींडा सुस्त नहीं रहेगा, उसने इत्मीनान की साँस ली। साली ने इसकी सारी जान ही सोख ली थी ! अब नीचे खेत में दोपहर की गरम मिट्टी में छटपटा रही होगी— मिट्टी में सनी हुई। उसने चैन की साँस छोड़ी जैसे जोंक उसकी अपनी नाक से निकली हो। भीतर जाकर उसने रींडा को देखा, वह बैठ गया था और जीभ घुमा-घुमाकर अपने नथुने साफ कर रहा था।

*

जिस समय घर पहुँचा, बीच आसमान में खड़ा सूरज पश्चिम की ओर थोड़ा तिरछा हो गया था। ओबरी पर साँकल चढ़ी थी और ऊपर महेसी के कमरे से धुएँ का अम्बार बाहर निकाल रहा था। 'छम्म' से सब्जी छौंके जाने की आवाज की ओर उसका ध्यान खिंचा ही था कि छौंक की एक खुशबूदार लहर भटककर उसकी नाक के पास से गुजरी। वाह, क्या बढ़िया खुशबू है ! भूख से उसकी दाढ़ें रसक उठीं। उसका ख्याल था, माँ ने जरूर उसके लिए कुछ-न-कुछ उबालकर रखा होगा। साँकल उतारकर द्वार धकेला तो सीलन की ठंडी गंध मिली। चूल्हा जला होता, तो ओबरी गरम और धुआँगंधी होती। चूल्हे की तरफ निगाह डाली, पर बाहर की चौंधियाई आँखों से उधर अँधेरा दिखाई दिया। कहीं बल्ली से सिर न टकरा जाये, वह झुका-झुका चूल्हे की तरफ बढ़ा। करीब गया तो सुबह का लिपा-पुता चूल्हा मुँह बाए दिखाई दिया। भूख में अन्न की आशा जब निराशा में बदलती है तो जैसी बेचैनी होती है, वैसी ही बेचैनी से भर उठा

था वह। उसका जी हुआ, धाड़ मारकर रो पड़े, पर महेसी का ख्याल आ गया। और उसके साथ ही उसकी छौंकी भुज्जी का। ठाठ तो महेसी के हैं। क्या छोंका-तला खा रही है! लेकिन दिल ऐसा पत्थर है कि कभी कहने के लिए भी नहीं कहती कि आओ, हल से थके-माँदे लौटे हो, थोड़ा-सा चख जाओ।

बाहर लौटते हुए उसकी निगाह बड़ेचीं पर पड़ी, उस पर साफ मँजी पीतल की कसेरी और कसेरी पर उसी तरह साफ मँजा लोटा रखा देखकर उसे गुस्सा आ गया। कितनी बार कहा इस बुढ़िया को कि अब पानी लाने का काम तेरे बस का नहीं, पर मानती ही नहीं। किसी दिन झरने के रास्ते पर भरी कसेरी के साथ झटका खा गई, तो हो गया लिया-दिया। गई कहाँ वह?

उसे आवाज देने के लिए वह पिछवाड़े के खेत के रास्ते मकान पर चढ़ गया, दुतरफा ढलवाँ छतों के बीच बनी मुंडेर के छोर पर खड़े होकर उसने आवाज मारी, 'हे ऽऽ बोई (माँ)!'

पहाड़ के कूबड़ पर बसे गांव में उसकी आवाज दूर-दूर तक लहरा गई। कोई जवाब न पाकर उसने और लम्बा स्वर खींचा, 'हे बोई-ई-ई! अरी बची है कि मर गई?'

'न बची हूँ, न मरी।' माँ की आवाज थी। उसे ऊपर के रास्ते से घर की तरफ आते देखकर वह उसी आवेश में बोला, 'कब से आवाज मार रहा हूँ, कहाँ गई थी? जब देखो लाठी खटकाते गाँव के दौरे पर निकली रहती है! किसने कहा था, तुझे पानी लाने के लिए? क्या मैं मर गया था?'

'अब नीचे भी उतरेगा कि वहीं गरम पत्थरों पर खड़ा रहेगा।'

मकान से उतरकर आते हुए नत्थू ने देखा, माँ के पेट के पास धोती के पल्ले से बँधी कोई पोटली लटक रही है। जरूर यह गाँव से कुछ

माँग कर लाई है। उसका गुस्सा अब पोटली की तरफ मुड़ गया था।

ओबरी के अन्दर पहुँचते ही उसने उस पोटली को हाथ से दबाते हुए पूछा, 'यह क्या है!'

जबाब में माँ काँखती हुई गई और थाली लेकर बैठ गई। पोटली खोलकर थाली में डाली तो नत्थू झिड़ककर बोला, 'कहाँ से माँग लाई यह झँगोरा?'

'माँग कर लाती, तो कोई कुटा हुआ झँगोरा देती?'

'तो?'

'संतू की माँ ने उधार लौटाया है।'

'उधार और हमसे! क्यों झूठ बोलती है, माँ!'

'पूछ लेना।'

'उसे कहकर आ गई होगी कि नत्थू पूछे तो उधार का बताना।'

जवाब में माँ थाली में झँगोरा फटकने लगी थी। नत्थू को लग रहा था कि यह सब माँ की बनाई हुई बातें हैं। घर में कुछ न होने से वह माँगकर झँगोरा लाई है। लेकिन इस तरह कैसे चलेगा? भूख तो रोज की है, लेकिन भिखारी बने विना भीख रोज की कहाँ होती है? लोग कहेंगे, एक दिन क्या दिया, बुढ़िया को तो माँगने की आदत ही पड़ गई!

'अब सोच क्या रहा है?' अपनी सफेद बरौनियों वाली पलकें उसकी ओर उठाकर माँ ने कहा, 'यह परोठी (कठौता) लेकर किसन के यहाँ से छाँछ ले आ। झटपट तेरे लिए छँछिया बना दूँगी।'

'नहीं, झँगोरा वैसे ही पका दे।'

'थका है, इसलिए? अच्छी बात है, मैं ले आती हूँ।'

'नहीं, यह बात नहीं,' नत्थू ने कहा, 'बात यह है कि आज किसन दा ने खेत की मेड़ चिन देने के लिए कहा। पहले रींडा की जोंक

झाड़ने के लिए तम्बाकू लिया और अब छाँछ के लिए परोठी लेकर पहुँचूंग. तो सोचेगा— एक काम के लिए क्या कहा, माँगने का सिलसिला ही शुरू कर दिया।'

'तो ठीक है,' माँ ने कहा, 'झँगोरा चूल्हे पर चढ़ाकर सगोड़े से प्याज की पत्तियाँ ले आती हूँ, उसका साग बना दूंगी ! और हाँ, तू जोंक की बात कर रहा था ; निकली, या नही ?'

'निकल गई।'

'और खेत सारे जुत गये ?'

'हाँ।'

'चलो, अब कल से आराम रहेगा।'

यह कहकर माँ चीड़ की लीसीली खपचियों पर पड़ोस से आग लाने चली गई थी। ऊपर महेसी के यहाँ आग थी, पर माँ को उससे आग लेना भी पसन्द नहीं था।

नत्थू का दिमाग माँ की आराम वाली बात पर जमा था। काम का न होना ही तो आराम नहीं है। आराम 'ना' की तरफ वाली चीज नहीं, 'हाँ' की तरफ वाली चीज है। और 'हाँ' यहाँ कुछ है ही नहीं। जिन हालातों में भीख का झँगोरा और प्याज की पत्तियों का साग चल रहा है, उनमें आराम का अर्थ समझने की उसने कोशिश की, पर उसकी कुछ समझ में नहीं आया।

*

शाम को माँ बसिंगा (वासा) की ढेर सारी मुलायम पत्तियाँ चुन-कर ले आई थी। उन्हें खूब अच्छी तरह उबालकर और तीन-चार बार उसका पानी बदलकर माँ ने रात को उसकी भुज्जी बनाई। लेकिन कड़—वाहट फिर भी रह गयी थी। तेल में अच्छी तरह भूनकर मिर्च-मसाले के साथ बनी होती, तो कड़वाहट कम महसूस होती। सिर्फ नमक के साथ वह चल नहीं सकी। फिर भी उन्होंने वह निगल ली थी, यह सोचकर कि

जीभ पर भले ही कड़वी है, पेट तो भरा रहेगा। फिर वहीं ओबरी में गुदड़े फैलाकर दोनों लेट गये थे।

'परसों गाँव में शादी है।' माँ ने कहा,

'हाँ!' नत्थू ने यों ही हुँकारा भरा।

'तू भी तो बरात में जायेगा?'

'कहा तो है उन्होंने।'

'तो क्या नहीं जायेगा?'

'नहीं।'

'क्यों?'

'तू नहीं समझेगी सो जा।'

लेकिन माँ समझ रही थी कि नत्थू बरात में क्यों नहीं जाना चाहता। यह शिवजी की बरात नहीं कि लूरे-लत्तों में में जाया जा सके। थोड़ी देर चुप रह कर वह फिर बोली, 'बरात रवाना होने और लौटने के दिन गाँव भर की जीमण है।'

'तो?'

'कुछ नहीं, कह रही हूँ।'

वह माँ का मतलब समझ रहा था, लेकिन साथ ही यह भी समझ रहा था कि फसल के घर आने तक के कई महीने उन दो दिनों के जीमण के सहारे खिचने वाले नहीं। किस तरह कटेगा यह समय? उसका जी हुआ कि कहीं मैदानों की तरफ निकल जाये मजूरी करने। पर फिर अपनी कमजोर उम्र का उसे ख्याल हो आया। ताकत का काम उससे होता नहीं। फिर धेली-पैसा भी नहीं शहर जाने के लिए। किसी से कर्ज लेकर गया भी, तो मजूरी एकदम मिल ही जायेगी, इसका क्या भरोसा? दो-चार दिन काम न मिला, तो भूखों मरने की नौबत आ जायेगी। यहाँ बसिगा तो है। फिर शहर में रहेगा कहाँ? यहाँ सिर के ऊपर छत तो है। उस पर जिन्दगी के आखिरी छोर पर पहुँची यह बूढ़ी माँ, इसे भी तो

अकेले छोड़ा नहीं जा सकता । ओह !

'सो गया क्या ?' उसे जागता जानकर माँ ने पूछा ।

'नहीं ।'

'पेट नहीं भरा, इसलिए न ?'

'नहीं, यह बात नहीं ।'

'तो ?'

जवाब में उसे गुमसुम पाकर माँ बोली, 'अरे बोलता क्यों नहीं ? क्या सोच रहा है ?'

'तू बेकार परेशान हो रही है, माँ !' नत्थू ने कहा, 'मैं तो रींडा के बारे में सोच रहा था । वह अक्सर अपना सिर खूंटे पर ठकठकाता रहता था । इसका कारण अब समझ में आया । उसका भेजा जब जोंक कुरेदती थी तो उस बेचैनी में वह माथा ठोकने लगता था । उसका इलाज हो गया, अब नहीं ठोकेगा ।'

माँ को लगा जैसे बात कुछ और है और यह छिपा रहा है । वह बोली, 'जो मन में है, उसे क्यों नहीं कहता रे ? माँ के सामने नहीं खोलेगा तो और कहाँ खोलेगा तो अपनी मन की गाँठ ? उगल दे बेटा, घुटा मत रह । जी हल्का हो जाएगा ।'

'मैं सोच रहा था माँ, कि हम भी तो अपनी लाचारी के खूंटे पर बँधे अपना सिर पटक रहे हैं । यह जो गरीबी की जोंक बराबर हमारी जान चूसती चली आ रही है, इसे झाड़ने के लिए क्या कोई तम्बाकू का पानी नहीं ?'

अँधेरे में माँ की सुड़कने की आवाज सुनकर उसे लगा, माँ रो रही है । वह जानता है, माँ को जब दुख होता है तो उसकी नाक बहती है । आँखें उसकी सूनी और उजाड़ रहती हैं, पता नहीं क्यों ? फिर भी वह पूछ नहीं सका कि क्या बात है माँ, चुप क्यों है ? कहीं माँ के दुख का

बाँध टूट गया तो वह थाम नहीं सकेगा न माँ को और न अपने आपको। उसने सोने के बहाने चुप्पी खींच ली।

८/मातृत्व

वह इस तरह अपने आप में गुम रहती है, जैसे वह गाँव में न होकर किसी सुनसान उजाड़खंड में रह रही हो, जहाँ बोलने-बतियाने वाला कोई नहीं होता और आदमी खुद अपना सवाल होता है, खुद अपना जवाब ! घर-बाहर के सभी काम करती है, पर उसी तरह जैसे सूत कातते हुए कबिरा का ध्यान कहीं और हो। कोई बाहर से आया आदमी उसके पैर छूने झुकता है, तो गहरी नींद में झकझोरी गई-सी चौंक उठती है। "चिरंजी रह" का यंत्र-चालित-सा आशीर्वाद देकर वह यह नहीं पूछती कि कब आये ? कैसे हो ? कब तक रहोगे ? सीधा एक ही सवाल करती है— 'बेटा, मेरा रामलाल भी कहीं दिखा?" ना सुनते ही वह मकड़ी-सा अपना जाल समेट लेती है। कछुए के अंगों सी अन्तर्गुप्त हो जाती है। रामलाल के समाचार के बिना उसके लिए दुनिया दुनिया ही नहीं रहती। .... बस यही एक सवाल है, जिसे लेकर वह गाँव से जुड़ती है, वरना अपनी ही सोचों की दुनिया में उलझी रहती है।

राह चलते उसके फैलते-सिकुड़ते, खुलते-बंद होते होंठ और उनसे निकलती अस्पष्ट-सी ध्वनि साफ जाहिर करती है कि वह अपने आप से बतिया रही है। तब उसकी मुख-मुद्रा में अनेक भावों का छूपछाँही चितकबरापन होता है। कभी ऐसी भाव-भंगिमा, जैसे अपनी ही किसी बात पर असहमति प्रकट कर रही हो। कभी ऐसी, जैसे कोई सवाल आकर भौंहों के बीच कुंचित हो गया हो। फिर जैसे कोई जवाब मिल गया हो, माथे पर सिकुड़ी उसकी झुर्रियाँ फैल जाती हैं। उसे इस तरह अपने आप से बतियाते देखकर उस दिन दुर्गादत्त दाजी को न जाने कैसे मजाक सूझी कि राह चलते उसे छेड़ बैठे—"आस-पास तो कोई नहीं भौजी,

किसे दे रही है गाली ?"

इस टोक से चौंकी-सी उसने क्षण भर दुर्गादत्त दाजी की तरफ इस तरह देखा जैसे अपने अन्तर्मन में गूँजे उनके शब्दों का मतलब समझने की कोशिश कर रही हो। फिर सहज भाव से यह कहती चल दी—"जो सुन ले।"

जवाब सुनकर दुर्गादत्त दाजी हँसे थे, पर उस हँसी में जबर्दस्त पटकनी खाने की झेंप थी। छेड़ने का पछतावा भी। आगे कभी न छेड़ने का निश्चय भी।

लोग उससे और बातें करें, न करें; यह खबर उसे जरूर देते हैं कि अमुक आदमी परदेश से आया है, या अमुक जा रहा है। तब वह इस तरह हड़बड़ाई-सी दौड़ पड़ती है कि लोगों के लिए अच्छा तमाशा बन जाती है। जल्दी पहुँचने की व्यग्रता को लेकर चढ़ाई के रास्ते पर उसके हाथ भी पाँव बन जाते हैं और उतराई के रास्ते पर तो जैसे पंख निकल आये हों ! लोग एक-दूसरे को इशारा देते हुए कहते हैं — "देखो तो बंदरी बुढ़िया को ! बंदरी की ही तरह फलाँगती जा रही है .... सूखी हड्डियों में भी कितनी जान है.........!"
और हँसी मजाक-भरी टिप्पणियों के साथ उसे देखते हुए हँसते रहते हैं। बंदरी बुढ़िया को इसकी कोई खबर नहीं। हो भी तो, परवाह नहीं। उसके इस तरह दौड़ पड़ने में कभी कोई फर्क नहीं आया।

बरसों से हर आने वाले से हर बार यही एक सवाल—"कोई खबर लाये मेरे रामलाल की ?" और परदेश जाते समय हरेक से यही एक याचना—"बेटा, कहीं रामलाल मिले, या उसका पता चले, तो एकदम खबर देना।"

सप्ताह में दो बार गाँव की गश्त में आने वाला महानन्द पोस्टमैन भी तंग आ गया है। वह कई बार गिड़गिड़ा चुका है — "काकी, मेरे

रास्ते में क्यों बैठी रहती है ! जिस दिन तेरे रामलाल की चिट्ठी आयेगी, भगवान कसम, सबसे पहले तेरे घर आऊँगा।" पर वह माने तब न !

बरसों से "ना" सुनते-सुनते एक डर भी उसके मन में कभी-जाग जाता है — रामलाल ने कहीं ऐसा-वैसा न कर लिया हो ! वरना इतने साल हो गये, उसका कुछ पता न चलता ! इलाके के इतने लोग परदेस में जहाँ-तहाँ फैले हैं, क्या अब तक यों छिपा रह सकता था ! इस दुष्कल्पना से उसके हाथ-पाँव फूल जाते हैं। घर वह घिसटती हुई लौटती है। फिर अपने आप को कोसने लगती है कि वह कैसी माँ है कि बेबात अपने बेटे का अशुभ सोचती रही। वह जरूर राजी-खुशी है। हे भैरवनाथजी, राजी-खुशी हो !

जबकि लोगों का ख्याल है, बल्कि एक तरह से वे मान बैठे हैं कि रामलाल जीवित नहीं। होता, तो यही कोई उन्नीस-बीस वर्ष हो गये, अब तक क्या कुछ पता न चलता ! और मान भी लें कि जीवित है, तो इस बंदरी बुढ़िया ने गाँव में उसे मुँह दिखाने लायक रखा ही कहाँ, जो वह अपने अज्ञातवास से लौटे !

*

गाँव के रिश्ते में वह बहुतों की दादी है, उससे कुछ कम की ताई-काकी और इने-गिने बूढ़ों की भौजी, या बहू। औरतें भी इसी हिसाब से रिश्ता निकालती हैं। पर सारे रिश्ते उसके मुँह के सामने हैं। पीठ पीछे सब उसे बंदरी बुढिया कहते हैं।

'बुढ़िया तो खैर वह है ही, पर उसे बंदरी क्यों कहते हैं ?" यह सवाल जब गर्मियों की छुट्टियों में शहर से आये गाँव के एक लड़के ने दुर्गादत्त द जी से पूछ लिया था, तो उन्होंने पहले उस युवक की आँखों में गौर से झाँका था कि कहीं प्रश्न किसी रहस्योद्घाटन से तो उत्पन्न नहीं ! लेकिन प्रश्न की सहजता से आश्वस्त होकर भी उन्होंने बात को वहीं खत्म

कर देने के उद्देश्य से सीधा जवाब नहीं दिया था। उस लड़के पर त्यौरी चढ़ाकर कहा था – "बंदरी नहीं, तो क्या अप्सरा कहें ? लगता है, या तो तूने उसका उठा हुआ थोबड़ा नहीं देखा, या बन्दर नही देखा। दोनों देखे हैं, तो इनका मेल बैठाने का माद्दा तेरे भेजे में नहीं।"

लेकिन उसका थोबड़ा हमेशा से उठा हुआ नहीं था। जब गाल ही नहीं रहे, तो जबड़ा तो उठा दिखेगा ही। बुढ़ापा किसका हुलिया नहीं बिगाड़ता, पर नाम बिगाड़ने का काम उसका नहीं। यह काम लोगों का होता है। जिनके आगे-पीछे दस लोग होते हैं, उनका चेहरा चाहे चुसे आम-जैसा पिचका हो, पराँठे-जैसे तिकोना, करेला-जैसा ऊबड़-खाबड़ या घोड़ा जैसे लम्बोतरा, वे अपने मौलिक नाम से आदरपूर्वक सम्बोधित किये जाते हैं। किसी की ताब नहीं, जो उनका नाम बिगाड़ सके। पर इस बुढ़िया का कौन है आगे-पीछे कि लोग उसे बंदरी बोलने से डरें। उसका असली नाम इतना पीछे छूट गया है कि अब बहुत-से लोग 'बंदरी' को ही उसका असली नाम समझते हैं और उसके माँ-बाप को दोष देते हैं कि उनके लिए नाम का भी अकाल रहा, जो बेटी का ऐसा नाम रखा। कुछ पुराने लोग ही जानते हैं कि उसका असली नाम सुन्दरी है; हालाँकि बोलते वे भी बंदरी ही हैं।

कहते हैं, जवानी में उसका सुन्दरी नाम उसकी सुन्दरता के सामने हल्का पड़ता था। आज उसके बाल काई-से उलझे और ऐसे धूप-छाँही हैं, जैसे पनचक्की से आटा पिसाकर लौटी हो। पर युवावस्था में काले-घने-रेशमी बालों की उसकी मोटी धम्मिल कमर से नीचे झूलती रहती थी। चलते समय दाएँ-बाएँ पड़ने वाले उसके ठोके, देखने वालों के दिलों पर चाबुक-से पड़ते थे। आज उसकी कमर झुक गई है, तब उसके वक्ष सुडौल और उभरे थे। कोटरगत उसकी बुझी-बुझी जाज की मिचमिचाती आँखें बड़ी-बड़ी थीं—रसीली और नशीली। हँसती, तो जैसे गुलाब की कली एकदम चटक गई हो। सफेद एकसार दंत-पक्ति ऐसी कि

बस देखते ही रह जाओ। पायल रुनझुनाते चलती, तो गाँव के बड़े-बड़े विश्वामित्र उसके पाँव के नीचे बिछ जाने के लिए ललक उठते थे। मतलब यह कि आज की बंदरी बुढ़िया तब नाम से सुन्दरी थी और रूप से परम सुन्दरी। उम्र ने उसका रूप बिगाड़ दिया और परिस्थितियों ने उसका नाम।

वह श्यामलाल की तीसरी शादी थी। पहली दो को श्यामलाल एक-एक कर भुगत चुका था। खुद भी पूरी तरह भुगता और चुकता हो गया था। यानी पैंतालीस वर्ष की अवस्था तक दो पत्नियों को निस्सन्तान परलोक भेजकर किसी तरह जिये चले जा रहा था। घर-बाहर के काम और जमीन-जायदाद का मोह उसे तीसरी शादी के लिए उकसाते, लेकिन उसे निभाने के लिए जब अपने अन्दर हिम्मत टटोलता, तो निराशा से बुझ जाता था। उन्हीं दिनों एक बाबाजी कहीं से टकरा गये। श्यामलाल ने गुप-चुप अपना दुखड़ा बयान किया, तो बाबाजी द्रवित हो गये। उन्होंने श्यामलाल को एक अच्छी भेंट-पूजा के बदले में एक अत्यन्त शक्तिवर्धक नुस्खा लिखाया, तो श्यामलाल आशा और उत्साह से भर उठा। नुस्खे को तैयार करने और उसकी सेवन-विधि के ज्ञान के साथ उसके अवश्यंभावी जीवंत परिणाम पर अटूट विश्वास लेकर जब वह विवाह के इरादे से सुन्दरी के बाप से मिला, तो उसकी आवाज में एक मर्द का आत्म-विश्वास बुलन्द था। हाथ की चेष्टाओं में मर्दाने झटके थे। नुस्खे का विचार भीतर से बुझी आँखों को फूंक मार-मार कर सुलगाने की कोशिश कर रहा था, लेकिन आँखें थीं कि सुलगने के बजाय राख ज्यादा उड़ा रही थीं। ढलती उम्र की छाप कहीं जवानी की ऐक्टिंग से छिपती है! सुन्दरी का बाप मुकर गया। अब श्यामलाल ने सौदा शुरू किया। उधर सुन्दरी की कीमत बढ़ती गई, इधर सुन्दरी के बाप की निगाहों में बुड्ढा जवान होता चला गया। पाँच सौ शुरू होकर जैसे ही श्यामलाल दो हजार पर आकर रुका, सुन्दरी के बाप ने फौरन अन्दर जाकर सुन्दरी की माँ को खुशखबरी

सुनाई — "दो हजार दे रहा है ! पैंतालिस की उम्र भी ज्यादा नहीं। शास्त्रों में कहा है. कन्या से वर दुगुना होना चाहिए – कन्यायाः द्विगुणो वरः। अपनी सुन्दरी बाईस की है। शास्त्र के हिसाब से बस एक वर्ष ही तो लड़का बड़ा है। साहूकारों का भी कर्जा चुकता हो जायेगा। लड़का मालदार है, लड़की भी ठाठ से रहेगी।"

एक साँस में इतना सुनकर सुन्दरी की माँ केवल इतना ही कह सकी —"लेकिन सुन्दरी को लड़का पसन्द नहीं। वह भीतर पड़ी रो रही है।"

"अरे यह सब तो शुरू-शुरू में होता ही है," सुन्दरी के बाप ने कहा। "बाद में सब बदस्तूर चलने लगता है। सैकड़ों उदारण दे सकता हूँ इलाके के।"

और सुन्दरी के बाप ने एक हाथ से दो हजार की थैली पकड़ी और दूसरे से बेटी का मांसल-गोरा-कोमल हाथ श्यामलाल की उभरी नीली नसों वाले साँवले हड़ीले हाथ में थमा दिया था। डोला-पालकी कुछ नहीं ! बाजे-गाजे कुछ नहीं ! वह शादी थी ही कहाँ, जो यह सब होता। वह तो सौदा था और सौदे में यह सब कहाँ चलता है !

आगे-आगे काले कोट में श्यामलाल और पीछे-पीछे लाल दुशाले में रोती-बिलखती सुन्दरी। गाँव में पहुँचे, तो जोड़ा ऐसा दिखाई दिया जैसे अमावस के साथ पूर्णमासी लगी आ रही हो। तब किनगोड़े के उस काँटेदार झंकाड़ पर चढ़ी इस ककड़ी की कोमल बेल के छिया-छिया हो हो जाने की कल्पना को लेकर लोग किनगोड़े के लिए रोष से और बेल के लिए हमदर्दी से भर उठे थे। पर इस नपुंसक रोष और बाँझ हमदर्दी से होता ही क्या है !

अभी तो नुस्खा कागज में नोट था। उसकी सामग्री मंडी से लानी थी। इसलिए श्यामलाल ने उस रात,दिन भर की चढ़ाई-उतराई के

दुर्गम रास्ते की शरीर-तोड़ थकान की बात कहकर सुन्दरी से कहा—"कल सुबह-सुबह मंडी जाना है। सोच भी नहीं रखा था कि यों आनन-फानन शादी हो जायेगी। वरना तुम्हारे लिए पहले से ही गहने-कपड़े तैयार रखता।" और जम्हाई के साथ टूटन-भरी अँगड़ाई लेता हुआ बोला था—"ओह, नींद झपकती चली आ रही है!"

मंडी से वह सुन्दरी के लिए गहने-कपड़े तो लाया ही, रंग-बिरंगी मिठाइयों का डब्बा, नहाने के लिए खुशबूदार साबुन की टिकिया, क्रीम-पाउडर और चूड़ी-चुटी भी लाया। पर खास चीज थी नुस्खे की सामग्री, जिस पर उसकी इस नई गृहस्थी को जमाने का पूरा दारोमदार था। गहने-कपड़े आदि तो ऐसे थे, जैसे भूख से बिलबिलाते बच्चे को दूध तैयार होने तक खिलौनों से बहलाना। सुन्दरी भूखी तो थी, पर बच्ची नहीं, जो इन खिलौनों से बहल जाती। उस पर यह देखकर कि उसकी भूख के लिए इस घर में दाना भी नहीं, वह बेचैन हो उठी थी। अपने घर में खाना न हो और दूसरे के घर का दाना भी निषिद्ध, तो भूखा व्यक्ति क्या करे? या तो निषेध तोड़े, या भूखों मर जाये। एक में आन जाती है, दूसरे में जान। यानी दुतरफा दो तरह की मौत। अपनी कुटिल-गति-नियति के इन दो विकराल फणों को अपने पर फुंकार छोड़ते देखकर सुन्दरी आतंकित हो उठी थी। यह ऐसा आतंक था. ऐसी बेचैनी, ऐसी घुटन, जो भीतर-ही-भीतर चुपचाप झेली जाती है, बाहर जिसकी कोई दुहाई नहीं!

वायु-रोग के नाम पर नुस्खे से तैयार हुई गोलियों का सेवन श्यामलाल ने चालू कर दिया था। पर फायदा कुछ नहीं दिखाई दिया। उल्टे खुश्की इतनी बढ़ गई कि आँखों के आगे लाल-पीली चिनगारियाँ-सी छूटती नजर आती। दूध-घी की मात्रा बढ़ाई, तो पेट चलने लगा। विश्वस्त नुस्खे को यों धोखा देते देखकर श्यामलाल का पसीना छूट गया और साथ ही बाबाजी के लिए गालियाँ। अब क्या होगा? तबीयत खराब होने का

बहाना आखिर कब तक चलेगा ? वह सुन्दरी से आँखें चुराने लगा था। कभी अनायास क्षण भर के लिए आँखें चार होतीं तो भीगी बिल्ली का-सा कातर-भाव उसकी आँखों में दिखाई देता। उद्दाम यौवना सुन्दरी अपने प्रवाह में घुटकर रह जाती।

हताश श्यामलाल भी समझ गया था कि दवा जान में ही जान डाल सकती है, बेजान में नहीं। सूखी लकड़ी सींचने से हरी नहीं होती। यद्यपि दवा का सेवन अनवरत था, पर वह डूबते के लिए तिनके का सहारा-जैसी बनकर रह गई थी। वह गाँव में झेंपा-झेंपा-सा निकलता। शादी को तीन वर्ष हो गये थे और वह अब तक अपने आपको बाप नहीं दिखा सका था। पहली दो औरतों को तो उसने एक-एक कर बाँझ घोषित कर दिया था। अब सुन्दरी पर भी यहीं वंध्या-दोष चस्पां करता है, तो लोग कहेंगे कि श्यामलाल के लिए तो सारी औरतें ही बाँझ हैं, या श्यामलाल के ही हिस्से में बाँझ औरतें क्यों आती है ? शर्म के मारे उसने गाँव में निकलना यथा-संभव कम कर दिया था।

उधर वह देखता कि सुन्दरी जब भी घर से बाहर निकलती है, गाँव के लफंगे तत्काल खाँस उठते हैं। बाहर के वातावरण में एक अजीब-सी हलचल जाग जाती है। किस मुँह से वह सुन्दरी को टोके कि इन शोहदों को इतना बढ़ावा देना ठीक नहीं। अपने पास वह रस्सी ही कहाँ कि उसे बाँधकर रख सके। उसकी सूखी चरागाह छोड़कर दूसरे का हरा-भरा खेत चरने घुस गई तो फिर वहाँ से खदेड़ लाने के लिए उसके पास डंडा भी तो नहीं।...... नाक कैसे बचाये ?

*

पहाड़ की कूबड़ पर पूर्वाभिमुख बसे गाँव को सूरज सामने से ताकने लगा था। गाँव चौंधिया उठा था। लेकिन श्यामलाल की तिबारी की बसीकत कुछ ऐसी है कि सूरज को उसे तिरछी नजर से देखना पड़ता है। गर्मियों में औरों को तिबारी सुबह से ही तपने लगती है, पर उसकी

तिबारी में धूप का एक तिरछा टुकड़ा आता है और फिर धीरे-धीरे पीछे हटता हुआ छज्जे से नीचे चौक में कूद पड़ता है। कहते हैं—धूप, धुआँ और धूल में हुक्का पीने का मजा नहीं। श्यामलाल इन तीनों से बचा हुआ अपनी तिबारी की छाया में हुक्का गुड़गुड़ा रहा था, पर बे-मजा मन से। सुन्दरी की चिन्ता उसे भीतर-ही-भीतर खाये जा रही थी। तभी उसकी निगाह नीचे के रास्ते से ऊपर की तरफ आते हुए दुर्गादत्त पर पड़ी। कैसा गबरू जवान है— गोरा-चिट्टा और पत्थर-पाटी जैसी चौड़ी चकली ठोस छाती ! मूँछों में ऐंठन और पानीदार बड़ी-बड़ी आँखें। श्यामलाल की आह निकल गई।········· श्यामलाल जानता है कि यह छुट्टा दिन में दस बार इस रास्ते क्यों चढ़ता-उतरता है !········· वह क्या देखता नहीं कि सुन्दरी पानी लाने झरने की ओर जाती है, तो यह भी कंधे पर अँगोछा डालकर घर से बाहर निकल पड़ता है। घास, लकड़ी लाने जंगल जाती है, तो यह भी घूमता-घामता वहीं पहुँच जाता है। आपस में इनकी हँसी-ठिठोली भी वह सुन चुका है। इसे देखकर सुन्दरी भी ऐसी खिल उठती है मानों धूप में मुरझाये फूल पर बरसा की फुहार पड़ी हो। सूखी डाली पर चिड़िया-सी उदास बैठी वह इसकी फूलों-लदी शाखा को देखते ही कैसे चहकने-फुदकने लगती है ! क्यों न फुदके ! उम्र ही चहकने-फुदकने की है।

और अचानक एक विचार श्यामलाल के अँधेरे में कौंध गया— "हाँ यही एक उपाय है"— सोचकर उसने आवाज मारी "दुर्गा ! अरे भई, देखा-अनदेखा क्यों कर रहे हो ? इस तिबारी से ऐसी भी क्या बेरुखी !"

दुर्गादत्त को अपने कानों पर विश्वास नहीं हुआ। उसने चौक के छोर से तिबारी की तरफ देखते हुए कहा— "मुझे बुला रहे हो क्या, भैंजी !"

'हाँ-हाँ, तुझे और किसे !" श्यामलाल ने कहा—"क्या मैं तुझे

बुला नहीं सकता ?"

श्यामलाल का यह अपनापन देखकर दुर्गादत्त खुश होकर भी शंकित था। कहीं प्रेम से बुलाकर लताड़ने न बैठ जाये। वह सहमा-सहमा तिबारी में पहुँचा, तो श्यामलाल ने इशारा देते हुए कहा— "आ भाई दुर्गा, इधर आ इधर, मेरे पास बैठ।"

दुर्गादत्त असमंजस में पास जाकर बैठा तो श्यामलाल ने शिकायत-सी की— "बड़े दुख की बात है, दुर्गा! चुपचाप निकल जाते हो। यह भी नहीं पूछते कि भैजी, तबीयत कैसी है! पता नहीं क्यों खिचे-खिचे रहते हो? एक परिवार के हैं और कोई मेल-जोल ही नहीं!"

जबाब में दुर्गादत्त कोई बहाना खोज ही रहा था कि श्यामलाल ने आग का करछा देते हुए कहा— "ज़रा नीचे से आग ला तो।

दुर्गादत्त यह काम देखकर शंकामुक्त हो गया था। अब वह उत्साहित था। फौरन जाकर नीचे से आग ले आया।

श्यामलाल ने तम्बाकू पर तवी रखते हुए पूछा— "नीचे क्या तेरी भौजी नहीं है?"

"है"।

"और फिर भी तू फौरन लौट आया।" श्यायलाल ने आश्चर्य प्रकट किया। फिर चिमटीं से चिलम में आग भरते हुए बोला — "तू भी कुछ नहीं, दुर्गा! अरे भौजी से चुहलबाजी का मौका मिले और देवर चूक जाये।"

दुर्गादत्त को झेंपा पाकर श्यामलाल ने जैसे विषय बदलते हुए कहा — "नई चिलम भरी है, तो हुक्का भी ताजा कर देते हैं। जा, एक लोटा पानी भी ले आ।"

इस बार दुर्गादत्त कुछ देर से लौटा। श्यामलाल बासी हुक्का खड़खड़ा रहा था। दुर्गादत्त आते ही सफाई देता-सा बोला— "भौजी ने सब्जी चखने के लिए जबरदस्ती रोक लिया ... आहा, सब्जी क्या थी

कि उँगली चाटता रह गया ।"

"पूरा खाना खायेगा, तो थाली चाटता रह जायेगा ।" कहकर श्यामलाल हँसा ।

दुर्गादत्त ने हुक्का ताजा किया, तो श्यामलाल ने आग्रह-सा करते हुए कहा— 'देख भई दुर्गा, ना मत कहना । आज दोनों भाई साथ बैठ कर खायेंगे ... ... आय-हाय, क्या कमाल का खाना बनाती है तेरी भौजी !"

अब श्यामलाल और दुर्गादत्त की दिन-रात छनने लगी । सुन्दरी भी जहाँ पहले घुटी-घुटी सी उदास रहती थी, अब जैसे पिंजरे से बाहर खुली हवा में चहकने लगी थी । श्यामलाल भी खुश नजर आता । उसके मन से वह डर निकल गया था, जो सुन्दरी के साथ पहले हर घड़ी उस पर सवार रहता था । इधर एक तसल्ली भी आ मिली थी कि वह बाप बनने जा रहा है । लेकिन स्वास्थ्य उसका गिरता जा रहा था । खून इतना विकृत हो गया था कि जहाँ-जहाँ खुजाता, फोड़े फूट पड़ते । जिस दिन उसके लड़का हुआ, वह चारपाई पर उठने-बैठने लायक नहीं था । फिर भी उसने बड़े धूमाधाम से पुत्र का नामकरण-संस्कार मनवाया । अपने नाम के मेल में लड़के का नाम रक्खा—रामलाल । माँ बनकर सुन्दरी भी प्रसन्न और सन्तुष्ट थी । उसे लगा कि जैसे उसका प्राप्य उसे मिल गया है । उसके अन्दर की औरत की अब तक की तड़फन जैसे इसे ही पाने के लिए थी । कुलंकषा बाढ़ उतर गई थी और अब उसकी जगह एक कल-कल-निनादिनी नदी थी — निर्मल और स्वच्छ । ... इस बीच दुर्गादत्त की गरदन पर भी जुआ पड़ गया था । अब वह था और उसकी नई-नवेली दुल्हन । बच्चे होने के पाँच-छह महीने बाद श्यामलाल भी गुजर गया । अब सुन्दरी माँ थी, केवल माँ ।

*

"दादी, विद्याप्रसाद काका आये हैं ।"

केवल यही एक खबर ऐसी है कि सुन्दरी बजाय विद्याप्रसाद के घर की तरफ दौड़ पड़ने के, एक दम विक्षोभ से भर उठती है, जैसे पहाड़ से लुढ़कर कोई विशाल शिला नीचे फैली झील में फक्कम आकर गिरी हो। तब झील किनारों पर थपेड़े खाने लगती है और उसके तल में जमी मिट्टी कीच उथल कर ऊपर आ जाती है। दर्पण-सी स्वच्छ जलराशि गंदला जाती है। कुछ इसी प्रकार की हालत हो जाती है तब सुन्दरी की। उसके अन्तर्मन की ढेर सारी अदृश्य बातें अहसास की हलचल-भरी सतह पर आकर उतराने लगती हैं।

विद्याप्रसाद की खबर के साथ सुन्दरी को वह दिन याद आ जाता है जब मिडिल का रिजल्ट निकला था। उसका रामलाल सारे जिले में प्रथम आया था। सरकार अब उसे आगे पढ़ने के लिए छात्र-वृत्ति देगी—यह सुनकर जब सुन्दरी ने छात्र-वृत्ति का मतलब जाना था, तो इस दोहरी खुशी के उफान में उसके होंठो पर मुस्कान सिसक उठी थी और आँखों में आँसू मुस्करा उठे थे। कुछ उस मौसम की तरह हो गई थी वह उस समय, जब बारिश भी होती रहती है और धूप भी खिली रहती है।...उसने तत्काल भैरवनाथ जी के नाम की भेली फाड़ी थी। गाँव में खुद प्रसाद बाँटने गई थी। प्रसाद बाँटते हुए घर-घर बताती भी गई — रामलाल फस्ट आया है... सरकार अब उसे वजीफा भी देगी–आगे पढ़ने के लिए।

वह घर लौटी ही थी कि जेठानी के घर में कोहराम सुनाई दिया, गालियों के साथ धड़ाम-धड़ाम मार-पीट की आवाज। साथ ही उठती विद्याप्रसाद की चीख-पुकार और जेठानी ऐसे तीखे स्वर में बज रही थी, जैसे विद्याप्रसाद की ढाल बनकर खुंकरी के वार रोक रही हो– "जान से मार डालोगे क्या लड़के को ! बाप हो, या कसाई !" उसके बाद मारना-पीटना बन्द कर जेठ जी चौक से दनदनाते सीढ़ियाँ चढ़कर छज्जे पर आ बैठे थे। तब वे हँफनी-भरी आवाज में गालियों के सम्पुट के साथ विद्या-

प्रसाद को कोसने लगे। वहाँ से उनकी एक-एक बात सुन्दरी की तिबारी में साफ-साफ सुनाई दे रही थी— "अब इसका पढ़ना बन्द ………कल से हल पर जोतो इस नालायक को……… क्या सोचकर इसका नाम विद्याप्रसाद रखा था कि पढ़-लिखकर सरकारी नौकर बनेगा। वाह रे विद्या-प्रसाद ……… अबे तेरा नाम तो गधाप्रसाद होना चाहिए था……… कूड़मगज कहीं का……… ऐरे गैरे पास हो गये……… इसने तवे की कालिख पोत दी हमारे चेहरे पर………।

सुन्दरी के सामने साफ जाहिर था कि ऐरा-गैरा उसके अपने रामलाल के लिए कहा गया है और विद्याप्रसाद की कुटम्मस के पीछे उसके फेल हो जाने का दुख ही कारण नहीं, उसके अपने बेटे के फस्ट पास होने और वजीफा पाने की जलन-कुढ़न भी शामिल है। उसका जी हुआ था कि जाकर खरी-खोटी सुनाये— अपने बेटे के चाहे काटकर टुकड़े कर दो. तुम्हारा बेटा है, पर मेरे बेटे को क्यों कोस रहे हो ? क्या तुम्हारा बेटा इसलिए फेल हुआ कि मेरे बेटा पहले नम्बर पास हुआ ? और मेरा बेटा अगर पास न होता, तो तुम्हारा बेटा फस्ट पास होता ? पर वह चुप रह गई थी यह सोचकर कि गाँव के दूसरे लड़के गोपाल और इन्दर भी तो पास हुए हैं। कैसे साबित करेगी कि ऐरे-गैरे का उनका इशारा उसके ही बेटे की ओर है ? तब अपने बेटे को इस टोक से बचाने के लिए उसके हाथ गाँव के ऊपर की ओर उस विशाल तूण वृक्ष की तरफ स्वत: उठकर जुड़ गये थे, जिसकी छाया में ग्राम-देवता प्रतिष्ठित हैं— एक त्रिशूल और पत्थर की अनगढ़ मूर्त्ति के रूप में। उसने भाव-विह्वल होकर प्रार्थना की थी—"हे ग्राम-देवता ! हे भैरवनाथ जी ! मेरे बेटे को लोगों की बुरी नजर से बचाना।"

लेकिन ग्राम-देवता ने उसकी प्रार्थना कहाँ सुनी ! सुनता, तो क्या उसका बेटा इस तरह लापता होता ! और कितनी सजा दोगे, हे ग्राम-देवता ! पिछले बीस बरस से अपने बेटे को लेकर कीड़े लगे पत्ते की

तरह छीजती चली आ रही हूँ। पत्ते की जगह पर जाली रह गई है ! कीड़ा सारी हरियाली चर गया। क्या तू भी मुझे कसूरवार समझता है ! बेटी के रूप में मुझे बेचा गया। पत्नी के रूप में मुझे मर्द का धोखा मिला और माँ के रूप में मिली है— बेटे के लिए तरसती जिंदगी ! फिर भी ग्राम-देवता ने सजा दी है, तो कसूर तो होगा ही।

विद्याप्रसाद के आने की खबर तेज आँधी-सी उसके मन में उठा देती है। उसकी काया का जर्जर वृक्ष चरमराने लगता है ... उस रात, जब रामलाल बड़ी देर तक घर नहीं लौटा तो उसने अपने ढलवाँ मकान की मुँडेर पर खड़ी होकर उसे कितनी आवाजें मारी थी- 'रामलाल ! हे ऽऽ रामलाल !' घाटियों ने गूँज दोहराई थी. लेकिन उसकी हाँ नहीं आई। तब वह गाँव में खोजने निकल पड़ी थी। पूछते-पाछते जा रही थी कि सामने से इन्दर आ गया। उससे पूछा. तो बोला "लगता है, भाग गया !"

यह सुनते ही उसे लगा था. जैसे वह बीच की कीली हो और चारों ओर के पहाड़ उस पर अपना भारी जोर डालते हुए पनचक्की की तरह घूम रहे हों। वह अब-टूटी, तब-टूटी हो गई थी। रास्ते के किनारे गिरती हुई-सी बैठकर उसने हाँफते हुए पूछा था—"भाग गया ! लेकिन क्यों ?"

इन्दर ने जब पूरी घटना सुनाई थी, तो वह अपनी जगह से उठ भी नहीं सकी थी। इन्दर उसे तिबारी में लाकर चारपाई पर डाल गया था। उसके बाद जब वह रात को रसोईघर से पानी पीने बाहर आयी थी, उसने आकाश में चौदहवीं का चाँद देखा था। जोर डालने पर उसे याद आया कि जिस दिन इन्दर उसे छोड़ कर गया था, उस दिन उसका एकादशी का व्रत था। यानी बीच में तीन दिन गुजर गये थे और वह अपने रामलाल में इस तरह खोई रही कि दिन रात के रूप में वक्त उस पर से गुजर रहा था और वह उसके अहसास से मुक्त थी। ऐसा-सा भी कुछ याद

आ रहा था कि जैसे लोग आकर उसे झकझोरते थे, पुकारते थे और शायद उसके गले में पानी भी डाल जाते थे। कुछ खिलाते भी रहे हों, तो याद नहीं। बस तब से ही वह उपले की आग बन गई है, जिस पर चढ़ी राख को विद्याप्रसाद के आने की खबर फूँक मारकर उड़ा देती है और वह फिर नये सिरे से दहक उठती है।

विद्याप्रसाद आठवीं फेल होकर भाग गया था— मार पड़ने के ही दिन। अब वह मिलिटरी में हवलदार है। उस साल जब गर्मियों की छुट्टियों में आया था तो सिपाही था। उसका रामलाल एस० ए० की परीक्षा देकर आया हुआ था। विद्याप्रसाद की खबर के साथ उसे वह दोपहर याद आ जाती है; जब विद्याप्रसाद, इन्दर और गोपाल उसके अपने रामलाल को जबर्दस्ती चौपड़ खेलने ले गये थे। रामलाल उस समय कोई किताब पढ़ रहा था। उसने कहा— 'भई मुझे खेलना कहाँ आता है।'

तब वह वहीं दूसरी चारपाई पर लेटी थी उसने उसे बढ़ावा देते हुए कहा था— 'बेटा, खेलेगा नहीं, तो सीखेगा कैसे। जब देखो पढ़ना-पढ़ना! हँसना-खेलना भी जरूरी होता है बेटा!'

आग लगे उसकी जबान पर। वह न उकसाती, तो शायद यह सब होता ही नहीं। पर उसकी जुबान पर तो होनी बैठकर बोल रही थी। तब कहाँ समझ पाई थी।

चौपड़ में पहली बाजी रामलाल और इन्दर की जोड़ी जीती। 'बस' कहकर रामलाल उठने को हुआ, तो विद्याप्रसाद उसे खींचकर बिठाते हुए बोला– 'यों जीतकर न जाने देंगे। दूसरी बाजी हराओ, तो जाने!'

रामलाल चौपड़ में नौसिखिया था, पर उसका हर दाँव मौके का पड़ रहा था। साथी इन्दर गोटियों की व्यूह-रचना में दक्ष था। संयोग की बात, दाँव उसके भी अच्छे पड़ रहे थे। इधर विद्याप्रसाद की एक गोटी बड़ी मुश्किल से भीतर जा रही थी। तभी रामलाल का ऐसा दाब

पड़ा कि उसकी गोटी ने दूर से उछाल मारकर विद्याप्रसाद की गोटी ठोक दी। विद्याप्रसाद बौखला कर बोला— 'तू कौड़ियाँ लगाता है। उछाल कर क्यों नहीं फेंकता ?'

'मैं क्या जानूँ कौड़ी लगाना।' रामलाल ने प्रतिवाद करते हुए कहा— 'अब तुम्हारे दाँव नहीं पड़ रहे हैं, तो इसमें मेरा क्या दोष !' और कौड़ी फेंकते हुए बोला— 'खिसियानी बिल्ली खम्भा नोचे।'

बस विद्याप्रसाद आपे से बाहर हो गया। एकदम चौपड़ उलटते हुए बोला— 'एम० ए० में पहुँच गया, तो अपने को बड़ा तीसमारखाँ समझता है हरामजादा कहीं का !'

रामलाल गाली सुनकर एकदम विद्याप्रसाद पर झपट पड़ा— 'हरामजादा कहा तूने, मैं तेरी जबान खींच दूँगा।'

गुत्थमगुत्था होते हुए विद्याप्रसाद ने कहा— 'हरामजादा नहीं तो क्या है ? जाकर पूछ अपनी माँ से…… सारा गाँव जानता है— 'तेरा बाप दुर्गा काका है। किस किस की जबान खींचेगा ?'

यह सुनकर रामलाल के हाथ-पाँव ढीले पड़ गये थे। उसने इन्दर की तरफ देखा, उसनें सिर झुका लिया। गोपाल की तरफ देखा, वह भी आँखें चुरा गया।

'तुम चुप क्यों हो ? बोलते क्यों नहीं ?' रामलाल चीखा। उनके सिर उठे, पर फिर झुक गये। तब विद्याप्रसाद बोला था—'ये क्या बोलेंगे। जो सच है उसे कौन झुठला सकता है ?'

बस फिर रामलाल कब घर आया, किधर से गया, सुन्दरी को कुछ पता नहीं। उसके लापता होने का दुख तो प्रत्यक्ष है ही, एक और भी कसक है, जो सुन्दरी को भीतर-ही-भीतर सालती रहती है। एक गहरी अन्तर्व्यथा कि उसके बेटे ने उसे—अपनी माँ को लोगों की आँखों से देखा,

बेटे की आँखों से नहीं। नहीं तो क्या वह अपनी माँ को इस तरह छोड़कर जा सकता था ! उसने यह भी नहीं सोचा कि सतीपन, या कुलटापन औरत में देखा जाता है। माँ के बारे में भी कहीं इस तरह विचार होता है ! माँ, सिर्फ माँ होती है— गंगा जल की तरह, जिस पर 'अच्छा' या 'बुरा' कुछ नहीं लगता। सुन्दरी को विश्वास है कि जिस दिन भी यह सच्चाई उसके बेटे के सामने उजागर होगी, वह अपनी माँ की तरफ दौड़ा चला आयेगा। लेकिन इतना लम्बा समय बीत गया; लगता है, उसकी आँखों पर पड़ा परदा अब भी ज्यों-का-त्यों तना है। समय ने उस पर्दे को हटाना तो दूर, जर्जर-झीना भी नहीं किया ! नहीं तो क्या वह अपनी राजी-खुशी भी नहीं भेजता !

'काकी, इन्दर आया है ।'

'क्या कहा ? इन्दर !'

और सुन्दरी उतराई के रास्ते पर सपाटे से दौड़ पड़ी। लोग बोले— 'देखो-देखो, बंदरी बुढ़िया कैसे उड़ी जा रही है !.........लगता है, कोई परदेश से लौटा है ।'

'यह बंदरी तो पागल हो गई बेटे के पीछे !' छज्जे पर बैठे हुक्का पीते दुर्गादत्त दाजी ने तिरस्कार के-से स्वर में कहा। फिर न जाने किस ख्याल में हुक्के पर जोर का दम खींच बैठे ! धुंए का ऐसा ठसका लगा कि खाँसते-खाँसते दोहरे हो गये !

डॉ० श्रीविलास डबराल 'विलास'

जन्म : १० जून, १९३२। जन्म-स्थान : ग्राम तिमली, जिला पौड़ी गढ़वाल (उ० प्र०)। पिता : पंडित वाणी विलास शास्त्री-विश्रुत विद्वान एवं उद्‌भट प्रवाही वक्ता। माता : वीरा देवी-निरक्षर, किन्तु 'उसका मन था कवियों-जैसा भाव-प्रवण, उसकी छन्दमयी वाणी में रस-वर्षण।'

सम्प्रति : प्रवक्ता, हिन्दी-विभाग, आर० एस० एम० परास्नातक महाविद्यालय, धामपुर।

रचनाएँ

1. मित्रभेद (पंचतंत्र) का हिन्दी पद्यानुवाद (१९७६) मूल्य २.००
2. पहाड़ों के साये में (कहानी संग्रह, १९७७) मूल्य ५.००
3. पृथिवीपुत्र (खंडकाव्य, १९८०) मूल्य १५.००
4. अनुगूंज (कहानी-संग्रह, १९८०) मूल्य १०.००

वाणी विलास प्रकाशन, धामपुर (बिजनौर) उ० प्र०